‘आधे-अधूरे’ नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प

(एम. फिल. लघु शोध-प्रबंध)

सिक्किम विश्वविद्यालय

मास्टर ऑफ फिलॉसफी (एम.फिल.) उपाधि की आंशिक परिपूर्ति के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

गंगा चौहान

हिंदी विभाग
भाषा और साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक - 737102

मई – 2018

‘आधे-अधूरे’ नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प

(एम. फिल. लघु शोध-प्रबंध)

अनुसंधित्सु

गंगा चौहान

पं. सं. 16/M.Phil/HND/01, दिनांक 16/05/2017

हिंदी विभाग
भाषा और साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक - 737102

‘आधे-अधूरे’ नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प

(एम. फिल. लघु शोध-प्रबंध)

शोध- निर्देशक

डॉ. दिनेश साहू

अनुसंधित्सु

गंगा चौहान

हिंदी विभाग

भाषा और साहित्य संकाय

सिक्किम विश्वविद्यालय

गंगटोक - 737102

‘आधे-अधूरे’ नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प

अनुसंधित्सु

गंगा चौहान

पं. सं. 16/M.Phil/HND/01, दिनांक 16/05/2017

द्वारा

सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक, के हिंदी विभाग में मास्टर ऑफ फिलॉसफी (एम.फिल.) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

दिनांक : ....

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि गंगा चौहान (पंजीकरण संख्या 16/M.Phil/HND/01, दिनांक 16/05/2017) द्वारा सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक में एम.फिल.(हिंदी) की उपाधि के लिए प्रस्तुत "'आधे-अधूरे' नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प" विषयक लघु शोध-प्रबंध उनके शोधकार्य का परिणाम है। जहाँ तक मेरी जानकारी है इस विषय के अंतर्गत किसी भी विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी संस्था में किसी भी उपाधि हेतु अद्यावधि कोई शोध-प्रबंध प्रस्तुत नहीं किया गया है । मैं इस लघु शोध-प्रबंध को सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक में एम.फिल.(हिंदी) की उपाधि हेतु मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत करने की संस्तुति देता हूँ।

शोध- निर्देशक

डॉ. दिनेश साहू
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक - 737102

दिनांक : ....

घोषणा

मैं गंगा चौहान (पंजीकरण संख्या 16/M.Phil/HND/01, दिनांक 16/05/2017) एतदद्वारा घोषित करती हूँ कि "'आधे-अधूरे' नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प" लघु शोध-प्रबंध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किये गये कार्यों का परिणाम है। इस शोध-सामग्री के आधार पर न तो मुझे और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी अन्य को पहले उपाधि प्रदान नहीं की गयी है और न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय/संस्थान में प्रस्तुत किया गया है।

इसे सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक के सम्मुख हिंदी विषय में मास्टर ऑफ फिलॉसफी (एम.फिल.) की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

अध्यक्ष	**शोध-निर्देशक**	**अनुसंधित्सु**
(डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय)	**(डॉ. दिनेश साहू)**	**(गंगा चौहान)**

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन :	**i – vi**
प्रथम अध्याय : हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास	**1-37**
1.क. हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास	
1.ख.स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की प्रमुख प्रवृतियाँ	
द्वितीय अध्याय : मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	**38-63**
2.क. व्यक्तित्व	
2.ख. कृतित्व	
तृतीय अध्याय : 'आधे-अधूरे' नाटक की मूल संवेदना	**64-93**
3.क. संवेदना : स्वरूप, परिभाषा और अवधारणा	
3.ख. संवेदना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे	
3.ख.i. व्यक्ति एवं समाज सम्बन्धी संवेदना	
3.ख.ii. नई और पुरानी पीढ़ी : विचार वैभिन्नता	
3.ख.iii. पारिवारिक संबंधों में विघटन	
3.ख.iv. स्त्री-पुरुष संबंध	
3.ख.v. स्त्री की त्रासदी	
3.ख.vi. आगे बढ़ने की लालसा	
3.ख.vii. असंतोष की भावना	
चतुर्थ अध्याय : शिल्पगत वैशिष्ट्य और 'आधे-अधूरे'	**94-120**
4.क. शिल्पगत वैशिष्ट्य और 'आधे-अधूरे'	

4.क.i. भाषा शैली, ii. पात्र-योजना, iii. कथावस्तु, iv. नाट्य संवाद

4.ख. रंगमंचीयता की दृष्टि से 'आधे-अधूरे'

4.ख. i. मंचसज्जा एवं दृश्यबंध, ii.प्रकाश योजना, iii. ध्वनि एवं संगीत, iv. वेशभूषा एवं रूप सज्जा

उपसंहार : **121-127**

संदर्भ ग्रंथ सूची : **128-131**

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम : गंगा चौहान

शिक्षा : एम. ए. (हिंदी)

विभाग : हिंदी

लघु शोध-प्रबंध का शीर्षक : **‘आधे-अधूरे’ नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प**

प्रवेश शुल्क के भुगतान की तिथि : 25.06.2016

शोध प्रस्ताव की संस्तुति :

(i) पंजीयन संख्या : 16/M.Phil/HND/01

(iii) पंजीयन तिथि: 16.05.2017

अध्यक्ष
हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक

शोध-निर्देशक
हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक

प्राक्कथन

नाटक हिंदी साहित्य की प्रभावशाली एवं सशक्त विधा है। नाटक को पंचमवेद के नाम से भी जाना जाता है। भारत में नाटक की परम्परा सदियों से चली आ रही है। प्राचीन काल में मानव अपने अभिनय कला का प्रदर्शन रंचमंच पर नाटकों के माध्यम से करता था। नाटक द्वारा पाठकों एवं दर्शकों में रसानुभूति के साथ समाज में फैली अराजकता के प्रति विरोध तथा जन-जीवन को जागृत करने का प्रयास किया जाता है। 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि का मानना है कि योग, कर्म और समस्त शिल्पों का समावेश नाटक में है। नाटक के माध्यम से देश की संस्कृति, परम्परा आदि की रक्षा होती है। इतिहास, पुराण, सभ्यता का विकास नाटक के माध्यम से दर्शकों के सामने उपस्थित होता है। आज हिंदी नाटक आधुनिकता-बोध से संपन्न है। नाटक केवल अब पाठ नहीं रहा बल्कि जीवन की विविधताओं को भी रंगमंच पर प्रस्तुत करने में समर्थ है। छठे दशक के प्रारम्भ में बदली हुई मानसिकता के फलस्वरूप नाटक और रंगमंच को लेकर क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। इस समय हिंदी नाटक पश्चिम रंगमंच के दबाव से बाहर निकलकर पुन: भारतीय रंगमंच की ओर लौटा। नाटककारों ने संस्कृत और मध्यकालीन लोकनाट्य का अनुकरण कर रंगमंच से जुड़े और नये-नये प्रयोग कर नाटक को कलात्मक रूप देने का भरपूर प्रयास किया। इतना ही नहीं रंगमंच को मूल्यवान सार्थक और जीवंत कैसे बनाया जाय इस दिशा में चिन्तन मनन भी किया। नाटककार और रंगकर्मियों द्वारा पहली बार सामूहिक रूप से स्वातंत्र्योत्तर भारत की समस्याओं को रंगमंच पर यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया। इस दिशा में मोहन राकेश के नाट्य चित्रण सबसे अधिक उपयोगी साबित हुए हैं।

मोहन राकेश आधुनिक युग के प्रमुख नाटककारों में से एक है। मोहन राकेश आधुनिक हिंदी साहित्य के एक अत्यंत संवेदनशील साहित्यकार है। वे अपनी रचनाओं में समाज के यथार्थ को सजगता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। 1950 ई. के पूर्व के नाटकों को देखने पर यह महसूस होता है कि वह साहित्यिक अधिक है। इस समय की नाट्य भाषा अलंकारिक और वर्णनात्मक थी और नाटक के सभी पात्र लगभग एक जैसी ही भाषा का प्रयोग करते दिखाई देते हैं, जबकि मोहन राकेश की भाषा और उनके पात्रों में एक नयापन दिखता है। उनकी नाटकों में आधुनिक जीवन की जटिलता का जैसा सटीक चित्रण हुआ है वैसा पूर्व के नाटकों में नहीं मिलता। उन्होंने रंचमंच को आम जीवन से जोड़ा और रंगभाषा तथा अभिनय के बीच अद्भुत समन्वय स्थापित किया। ऐसा प्रयोग कर

उन्होंने नाटकों की चली आती हुई सैद्धांतिकी और जड़ता को तोड़ा तथा सामाजिक यथार्थ को व्यावहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया।

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक है। इसमें उन्होंने जीवन को अपनी परिस्थितियों के भीतर से जीते हुए संकटग्रस्त मनुष्य के द्वन्द्व को नाटकीय रूप दिया है। जीवन के अनुभवों की मानवीय सार्थकता, अस्तित्व की बुनियादी समस्याओं का रेखांकन और अंतरद्वन्द्व समय और समाज की विघटनकारी स्थितियों का चित्रण यहाँ बड़ी कुशलता से हुआ है। 'आधे-अधूरे' उनके पूर्व प्रकाशित नाटकों से भिन्न है। इसमें वर्तमान समाज को ही केंद्र में रखकर संत्रास के मूल कारणों की खोज की गई है। इस नाटक की घटना, परिस्थिति और पात्र वर्तमान समय के है। वर्तमान समय के भोगे जा रहे कटु यथार्थ को यहाँ समाजिक परिवेश के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इसमें आधुनिक जीवन की कटुता, जटिल संबंधों का बिखराव, टूटन, निर्ममता, संत्रास और टूटे हुए परिवार की विवशता का यथार्थ प्रस्तुत हुआ है। 'आधे-अधूरे' में एक ऐसे परिवार का चित्रण है जो अपने आप में ही आसक्त नहीं है और जिनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है। पूरा परिवार ही अनेक प्रकार के हीनग्रंथियों और जटिलताओं से ग्रस्त है। यह परिवार अधूरा भी है और अपरिपक्व भी। इसमें अजीव सी घुटन और अजनबीयत छाई हुई है। परिवार के सभी सदस्यों में एक प्रकार की शुष्कता और रिक्तता है। इस रिक्तता के कारण अहंकार, भ्रांतियाँ, ओढ़ी नैतिकता, विकृत मानसिकता, परिवार और पारिवारिक संबंधों की नासमझी, विवाह और वैवाहिक मर्यादाओं के प्रति उदासीनता यह एक परिवार विशेष की कहानी न होकर समयमायिक जीवन की कहानी है।

सन् 1969 में लिखा गया 'आधे-अधूरे' नाटक आज भी जीवंत और प्रासंगिक है। यह नाटक दिल्ली जैसे महानगर में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। इस नाटक में मोहन राकेश ने संवेदना व शिल्प के स्तर पर कुछ ऐसी नई संभावनाएँ प्रस्तुत की हैं जिससे इसका महत्त्व आज भी बना हुआ है। इस नाटक में कठोर यथार्थ की सीधी व सपाट अभिव्यक्ति है और दूसरे उनके अनुकूल आम आदमी की बोलचाल की भाषा का सृजनात्मक इस्तेमाल। महेन्द्रनाथ व सावित्री के माध्यम से मोहन राकेश ने स्त्री-पुरुष संबंध के खोखलेपन तथा पारिवारिक विघटन की जीवंत स्थितियों को दर्शाया है। 'आधे-अधूरे' नाटक एक साथ पारिवारिक विघटन, मानवीय संबंधों में दरार, यौन विकृतियों एवं द्वन्द्व को समेटता चलता है। शिल्प की दृष्टि से भी हिंदी साहित्य में इसका अत्यंत महत्त्व है। इस नाटक में एक ही अभिनेता से पाँच भूमिकाएँ करवाने का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' की नाट्य भाषा को मोहन राकेश की बड़ी उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया गया है। इसमें उन्होंने हरकत भरी

नाट्य-भाषा, मौन अन्तराल, बीज शब्द, प्रतीकात्मकता आदि का प्रयोग किया है। वस्तुत:'आधे-अधूरे' हिंदी नाटक को वास्तविक अर्थ में वर्तमान युग का प्रतिबिंब बनाने वाला नाटक है। मध्यवर्गीय परिवार की विडम्बनाओं का यथार्थ चित्रण इस नाटक में दिखता है। मध्यवर्ग आज से 50 साल पूर्व जिन परिस्थितियों से घिरा हुआ था वह आज भी कहीं-न-कहीं दिखाई देता है। यह वर्ग सबसे अधिक आगे बढ़ने की लालसा में घर, परिवार, समाज से कटता जा रहा है। आज रिश्तों में वह मिठास नहीं रह गयी जो पहले हुआ करती थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 1969 ई. में लिखा गया यह नाटक आज भी प्रासंगिक है।

मेरे लघु शोध का विषय – 'आधे-अधूरे' नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प है। इसमें मैंने दिल्ली जैसे महानगर में रहने वाले मध्यवर्ग की विडम्बनाओं एवं मध्यवर्ग किस तरह से आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से जूझता है इसका विश्लेषण किया है। 'आधे-अधूरे' नाटक के प्रत्येक पात्र अपनी अस्तित्व की पहचान बनाने की कोशिश करते हैं, किन्तु असफल होते हैं। आधुनिक युग में भूमंडलीकरण ने सबसे अधिक मध्यवर्ग को प्रभावित किया है। आज लोग अपनी जरूरत के हिसाब से जीना नहीं चाहते बल्कि बाजार उन्हें निर्धारित करवाता है कि क्या करना है। मैंने इस लघु शोध में मध्यवर्ग की तमाम विसंगतियों को दिखाने का प्रयास किया है तथा साथ ही वर्तमान समय में उनकी स्थिति एवं उनकी दशा का भी वर्णन किया है। इस दृष्टि से मेरे लिए यह एक नया कार्य है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस शोध विषय को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। इन चार अध्याय से सम्बंधित विवरण इस प्रकार है-

शोध का प्रथम अध्याय – 'हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास' है। इसके दो उपशीर्षक हैं – क. हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास और ख. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की प्रमुख प्रवृतियाँ। इस अध्याय के अंतर्गत नाटकों का उद्भव एवं विकास किस तरह से हुआ है, इसे स्पष्ट किया गया है। साथ ही नाटक शब्द की उत्पत्ति में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों की क्या भूमिका है एवं उनके योगदान की भी चर्चा हुई है। भारत में नाटक के प्रणेता भरतमुनि माने जाते हैं। उन्हीं से यह परम्परा चली और पूरे भारतवर्ष में फैली। नाटक की यह परम्परा आधुनिक युग में पूर्ण रूप से प्रखर हो गयी। अध्ययन की सुविधा के लिए इस अध्याय को तीन भागों में विभाजित किया गया है -1.भारतेंदु पूर्व नाटक : भारतेंदु पूर्व नाटक ब्रजभाषा में लिखे गये हैं, इसके अंतर्गत आने वाली नाटकों की चर्चा की गई है। 2.भारतेन्दुयुगीन नाटक : भारतेंदुपूर्व नाटकों में ब्रजभाषा का प्रयोग होता था वही भारतेंदु युगीन नाटकों में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। नाटकों के माध्यम से इस युग के नाटककार प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट,

श्रीनिवास दास आदि ने समाज में व्याप्त कुरीतियों को हटाने की कोशिश की है इन सब बातों पर विशेष चर्चा की गई है। 3.प्रसादयुगीन नाटक : इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक चेतना और नारी जागरण का स्वर प्रतिबिंबित हुआ है। इन सब बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है साथ ही इस युग के प्रमुख नाटककारों की रचनाओं का उल्लेख किया है। प्रथम अध्याय का दूसरा उपशीर्षक 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की प्रमुख प्रवृतियाँ' है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य परम्परा आधुनिकता बोध के साथ साथ आगे बढ़ती है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में व्यक्ति की आस्था, विश्वास, सामाजिक रूढ़ियाँ और जीवन मूल्य का विघटन, आर्थिक विषमताएँ, व्यक्ति का एकाकीपन, अजनबीपन एवं महानगरीय संबंधों के खोखलेपन की यंत्रणा से मानसिक विघटन किस प्रकार से हो रहा है, उससे संबंधित उद्धरणों को नाटकों से लेकर प्रस्तुत किया गया है।

शोध प्रबंध का द्वितीय अध्याय है –'मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व'। इस अध्याय को दो उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है जो है – क.व्यक्तित्व और ख.कृतित्व। इस अध्याय के अंतर्गत मोहन राकेश के जीवनवृत्त पर चर्चा की गई है। साहित्यकार का जन्म जिस परिवार में होता है उस परिवार के संस्कार का प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ता है। मोहन राकेश बचपन से ही शांत स्वभाव एवं संवेदनशील किस्म के व्यक्ति थे। उनमें हमेशा से ही आगे बढ़ने की लालसा थी। राकेश का जीवन कहीं दमित इच्छाओं की अंतर्व्यथा है तो कहीं समाज की खोखली मान्यताओं की धज्जियाँ उड़ाती अंतर कथा। कृतित्व के अंतर्गत मोहन राकेश द्वारा लिखे गये सभी रचनाओं का उल्लेख किया गया है। उनका सम्पूर्ण कृतित्व किस प्रकार साहित्य को प्रभावित करता है और वह रचना वर्तमान समय में प्रासंगिक है कि नहीं इस विषय में भी चर्चा हुई है। मोहन राकेश एक कहानीकार के रूप में कैसे थे और उनकी प्रमुख कहानियाँ जैसे- नन्हीं, नये बादल ,जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी, चेहरे, वारिस आदि कहानियों पर संक्षेप में विवरण दिया गया है। आगे एक उपन्यासकार के रूप में मोहन राकेश कैसे थे इस पर विचार किया गया है और उनके प्रमुख उपन्यास अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल, अन्तराल आदि है। मोहन राकेश को निबंधों में भी ख्याति मिली थी। उनके निबंध परिवेश, आईने के सामने, समय सारथी, नयी निगाहों के सवाल आदि है। मोहन राकेश को सबसे अधिक सफलता नाटकों में मिली है, उन सभी नाटकों की चर्चा की गई है – आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे, पैर तले की जमीन आदि। इस शोध प्रबंध में मोहन राकेश द्वारा लिखे गये समस्त साहित्य का उल्लेख किया गया है।

शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय 'आधे-अधूरे' नाटक की मूल संवेदना है। इस अध्याय के उपशीर्षक हैं- क.संवेदना : स्वरूप, परिभाषा और अवधारणा ख.संवेदना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे'। इस अध्याय में संवेदना का अर्थ बताते हुए, उसकी परिभाषा एवं अवधारणा पर चर्चा की गई है। साथ ही संवेदना की परिभाषा को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के क्या विचार है उनको भी दिखाने की कोशिश की गयी है। 'आधे-अधूरे' नाटक में व्यक्ति एवं समाज सम्बंधित संवेदना किस प्रकार दिखाई देती है, इन बिन्दुओं पर विशेष रूप से चर्चा की गयी है। यहाँ व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ के बारे में सोचता रहता है। नई और पुरानी पीढ़ी में अंतरद्वंद्व हमेशा से ही दिखायी देता है। नई पीढ़ी के घर की स्थिति कैसे सुधरेगी, इन सब बातों से उन्हें फर्क नहीं पड़ता है वहीं पुरानी पीढ़ी इन सब बातों में ध्यान देती है। पारिवारिक संबंधों में विघटन आधे-अधूरे' नाटक का मूल बिंदु है। विघटन के कारण मध्यवर्गीय परिवार के कलहपूर्ण वातावरण, आर्थिक विघटन, संत्रास आदि किस प्रकार प्रखर हुए हैं, इन बिन्दुओं का विवरण दिया गया है। 'आधे-अधूरे' नाटक में स्त्री की त्रासदी किस प्रकार अपने चरम रूप में दिखाई देती है इन सब बातों में भी ध्यान दिया गया है। सावित्री घर की बागड़ोर संभालती है फिर भी पति द्वारा उसे हमेशा प्रताड़ित होना पड़ता है। इस नाटक की तीनों स्त्री पात्रों की स्थिति दयनीय है। आगे बढ़ने की लालसा मध्यवर्ग में हमेशा से रही है, यह वर्ग आगे बढ़ने के कगार में घर, परिवार, समाज आदि से कैसे कटता जा रहा है तथा असंतोष की भावना 'आधे-अधूरे' नाटक के प्रत्येक पात्र में दिखायी देती है, यह असंतोष की भावना खराब आर्थिक स्थिति के कारण ही हुई है। इन सब बिन्दुओं का विश्लेषण किया गया है।

शोध प्रबंध का चौथा अध्याय – 'शिल्पगत वैशिष्टय और 'आधे-अधूरे' है। इस अध्याय के उपशीर्षक हैं – क. भाषा शैली, पात्र-योजना, कथा-वस्तु, नाट्य-संवाद। ख.रंगमंचीयता की दृष्टि से 'आधे-अधूरे'- मंच सज्जा एवं दृश्य बंध, प्रकाश योजना, ध्वनि एवं संगीत, वेशभूषा एवं रूप सज्जा। इस अध्याय के अंतर्गत 'आधे-अधूरे' नाटक में भाषिक सहजता ,रोचकता और विभिन्न भाषाओं के शब्दों एवं मुहावरों का प्रयोग दिखायी देता है। इस नाटक के प्रत्येक पात्रों की भाषा से लगता है कि वह आम जीवन में व्यवहार होने वाली भाषा है जिसे हर कोई समझ सकता है। 'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश ने महानगर में रहने वाले मध्यवर्गीय पात्र जिस प्रकार की मिश्रित भाषा में बातचीत करते हैं उसी प्रकार के संवादों का प्रयोग किया है। 'आधे-अधूरे' नाटक की मंचसज्जा, दृश्यबंध और प्रकाश योजना बहुत ही साधारण है। संगीत और ध्वनि के माध्यम से लगता है कि जीवन में कितनी तकलीफें हैं। इन तकलीफों को संगीत एवं ध्वनि के माध्यम से दिखाने की कोशिश की गयी है। वेशभूषा के अंतर्गत किसी प्रकार

का तामझाम दिखाई नहीं देता है। प्रमुख पुरुष या अभिनेता को पाँच भूमिकाएँ करनी थी। इसके लिए केवल वह एक ऊपरी वस्त्र बदलता है, सावित्री ही दूसरी बार कपड़े बदलती है। सावित्री केवल वही रूपसज्जा किये हुए रहती है, जो उस जैसी स्त्री वास्तविक जीवन में करती है। इन सब बिन्दुओं को दिखाने की चेष्टा की गई है।

इस लघु शोध-प्रबंध को पूर्ण रूप देने में मुझे अनेक लोगों का सहयोग मिला जिनकी मैं सदा आभारी रहूंगी। सर्वप्रथम मैं हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे इस शोध विषय पर शोध करने की अनुमति और अवसर दिया। मैं अपने आदरणीय गुरुवर तथा शोध निर्देशक डॉ.दिनेश साहू को प्रणाम करती हूँ तथा सदैव उनके आशीर्वाद की आकांक्षी हूँ। समय-समय पर मिले आपके सुझावों ने शोध-कार्य को पूर्णता प्रदान करने में अभूतपूर्व मदद की। इसके लिए आभार जैसे शब्द के स्थान पर आपके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा निवेदित करती हूँ। मैं अपने पुस्तकालय का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिससे मुझे प्रचुर मात्रा में पुस्तकें आसानी से प्राप्त होती रही। मैं डॉ.बृजेश कुमार पाण्डेय सर का भी आभार व्यक्त करना चाहूंगी जिन्होंने शोध – विषय से सम्बंधित अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे लाभान्वित किया। साथ ही मैं विभाग के अन्य गुरुजन डॉ.चुकी भूटिया, प्रदीप त्रिपाठी और डॉ. बृजेन्द्र अग्निहोत्री की भी आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य में अपने सुझावों द्वारा मेरी सहायता की। मैं आभार व्यक्त करती हूँ प्रो. विश्वनाथ प्रसाद, डॉ.आदित्य विक्रम सिंह एवं डॉ.श्रीकांत द्विवेदी सर का जिन्होंने एम.ए. में मुझे पढ़ाया और आत्मीयपूर्ण ढंग से हमारा मार्गदर्शन किया। मैं आभार व्यक्त करती हूँ डॉ.राम भवन यादव सर एवं डॉ.संतोष गुप्ता सर का जिन्होंने मुझे इस लघु शोध में मेरी सहायता की। मैं आभार व्यक्त करती हूँ अपने करीबी मित्र और सहपाठी कृष्ण कुमार साह का जिन्होंने मेरे लघु शोध के टाइपिंग में मेरी सहायता की और समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित किया। साथ ही मैं मेरे मित्र बी आकाश राव को भी आभार ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने सुधार कार्य में मेरी सहायता की और साथ ही मुझे प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त मेरी प्यारी सहेली नेहा कुमारी, रंजू कुमारी गुप्ता, अंकिता छेत्री, लक्ष्मी चौहान को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मेरे इस लघु शोध कार्य में मदद की। अंत में मैं अपने पूरे परिवार का आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया साथ ही उनका आशीर्वाद हमेशा मुझपर बना रहा।

स्थान – गंगटोक, सिक्किम **अनुसंधित्सु**

दिनांक - **गंगा चौहान**

प्रथम अध्याय

हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास

1.क. हिंदी नाटक का उद्भव एवं विकास

नाटक साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है, जिसमें दृश्यत्व एवं श्रवयत्व का सुंदर समन्वय मिलता है। नाटक में दृश्यकला, संगीतकला, वास्तुकला आदि का एक साथ प्रदर्शन होता है, जिसके कारण दर्शक बहुत आनन्दित होते हैं। प्रायः नाटक में किसी महान व्यक्ति अथवा सामान्य व्यक्ति की संपूर्ण जीवन गाथा को दर्शाया जाता है। मुख्य पात्र के जीवन गाथा के साथ-साथ उसमें युगीन परिस्थितियों का भी चित्रण किया जाता है। नाटक का कथानक पात्रों के कथोपकथन या क्रियाकलापों के साथ-साथ आगे बढ़ता है। नाटक एक गतिमान क्रिया है जहाँ अभिनेता प्रेक्षक का कुतूहल बढ़ाने का कार्य करता है। साथ ही नाटक मनुष्य की संघर्षशील प्रवृत्ति का प्रतीक होता है। इस संघर्ष के कारण प्रेक्षकों की कुतूहलता चरम सीमा तक पहुँच जाती है। प्रेक्षक नाटक के साथ एकाकार हो जाते हैं और इससे वे आनंद का अनुभव करते हैं। इसीलिए नाटक को भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी एक लोकप्रिय विधा माना गया है। प्रायः नाटक में वीर या शृंगार रस की प्रधानता होती है तथा अन्य रस गौण रूप से आते हैं। नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक आदि विषयों पर आधारित होती है। नाटक का नायक राजा या कोई महान प्रसिद्ध व्यक्ति होता है। उसमें धैर्य, गाम्भीर्य तथा त्याग आदि उदात्त गुण होते हैं। इन्ही गुणों के कारण नाटक को हिन्दी साहित्य की एक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय विधा माना जाता है।

'नाटक' शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है। "पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की उत्पति 'नाट्' धातु से सिद्ध की है"[1] जिसका अर्थ नाटक खेलनेवाला या अभिनेता है। शब्दकोश के अनुसार, "नाटक शब्द का अर्थ वह साहित्यिक रचना है जिसमें कथावस्तु, चरित्र, क्रिया व्यापार और संवाद योजना की ऐसी संरचना हो कि उसे मंच पर प्रस्तुत किया जा सके, नाट्यकृति, खेला, स्वांग।"[2] 'रूपक' को नाटक का पर्यायवाची शब्द माना जाता है किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अंतर है। "नाटक शब्द में गीत एवं क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है। जबकि रूपक में स्थूल रूप और वेश-भूषा आदि को अधिक महत्व दिया जाता है।"[3] संस्कृत के आचार्यों ने 'रूपक' को 'नाटक' से अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए उसके अट्ठारह भेद किये हैं, जिसमें से एक भेद नाटक है। इन सभी भेदों में

नाटक प्रधान रहा है। आज तो नाटक दृश्य काव्य का पर्याय बन गया है, जिससे नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध घनिष्ट माना जाता है। 'काव्येषु नाटक रम्यम' के अनुसार नाटक सर्वाधिक रमणीय तथा काव्य में श्रेष्ठ नाट्य विधा है। भरतमुनि ने नाटक को लोक व्यवहारों का अनुकरण कहा है – "लोकवृत्तानुकण नाट्य मेतन्मयाकृतम्।"[4] नाटक मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण साधन है।

जीवन रूपी नाटक का नायक मनुष्य है। वह सुख-दुःख के साथ अभिनय करता हुआ जीवन रूपी नाटक खेलता है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में नाटक के मूल में 'अनुकरण' को स्वीकार किया गया है। भरतमुनि नाटक को लोकव्यवहारों का अनुकरण कहा है - लोकवृत्तानुकरण नाट्य मेतन्मया कृतम्। 'अवस्थाकृतिनाट्यम' के अनुसार नाटक अवस्था का अनुकरण है। आचार्य विश्वनाथ ने अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहा है। अभिनय नाटक का भेदक लक्षण है। इस दृष्टि से नाटक की परिभाषा करते हुए डॉ.माधव सोनटक्के कहते हैं – "साहित्य की जिस विधा में अभिनेता मूल-पात्र का अपने ऊपर आरोप कर, उसी प्रकार आचरण करते हैं जिस प्रकार उन ऐतिहासिक या पौराणिक या समसमायिक पात्रों ने किया। अगर मूल पात्र कल्पित है तब भी नाटककार ने उनके जिस कार्य-व्यापार की कल्पना की है, वैसा ही अनुकरण अभिनेता जिस विधा में करता है, वह विधा 'रूपक' या 'नाटक' कहलाती है।"[5] नाटक की परिभाषाओं को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जानेवाला एक आनंद है। रंगमंच के कारण नाटक अपने आप प्रभावी बन जाता है। इसीलिए "नाटक को 'दृश्यकाव्य' कहा गया है और काव्यकला में श्रेष्ठ माना गया है।"[6] अन्य विधाओं की तुलना में नाटक जनसमुदाय पर व्यापक प्रभाव डालने की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। अभिनेता के कारण दर्शक रचना से अधिक निकट का तादात्म्य स्थापित करता है। नाटक में काव्यत्व और दृश्यत्व का सुंदर समन्वय होने के कारण वह अधिक रमणीय बन जाता है। सभी काव्य कलाओं में प्रभावोत्पादकता तथा रमणीयता की दृष्टि से नाटक ही सर्वश्रेष्ठ है।

नाटक का विकास :

हिंदी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिंदी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य है अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्वों

का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुंतला' कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमनाटक' राजा जयवन्तसिंह का 'प्रबोधचंद्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनंदन' नाटक हिंदी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अत: वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिंदी साहित्य के आदि और मध्य अत्यंत अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। हिंदी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका जबकि हिंदी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यंत विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान था। आधुनिक युग में हिंदी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रूचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिंदी गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिंदी नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिंदी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के सम्पर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिसमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेज नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने 'फोर्ट विलियम' कालेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शकुन्तलम' के हिंदी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शकुंतलम' के कई हिंदी अनुवाद हुए जिसमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1857 में भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता गोपालचंद्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियों ने नृत्य संगीत प्रधान नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिंदी साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेंदु ने जनता की रूचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया। अध्ययन की सुविधा के लिए नाटक के विकास को विभिन्न कालों में विभाजित किया जा सकता हैं –

भारतेंदु पूर्व युग :

आधुनिक नाटककारों में सबसे पहला नाम भारतेंदु हरिश्चंद्र का लिया जाता है । आधुनिक हिंदी या खड़ीबोली से पहले ब्रजभाषा का साहित्य प्रचलित था। इसकी कुछ झलक भारतेंदु युग में दिखाई देती है। उदाहरण के लिए हम भारतेंदु के पिता श्री गिरिधरदास द्वारा लिखित 'नहुष' (1859 ई.) 'प्रद्युम्न' (1864 ई.) नाटकों को ले सकते हैं जो ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। भारतेंदु के काव्य नाटक और गद्य रचनाओं में कहीं-कहीं ब्रज भाषा की गंध पा सकते हैं। इसका समर्थन करते हुए गोपीनाथ तिवारी जी लिखते हैं कि – "भारतेंदु पूर्व काल में हमें ब्रज भाषा के लगभग तीन दर्जन नाटक मिलते हैं। ये दो प्रकार के हैं। एक इसमें मौलिक जैसे- प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक' कृष्ण जीवन लछिरम का 'करुणाभरण', उदय कवि के 'हनुमान' और 'रामकरुणाकर' नाटक एवं महाराज विश्वनाथ सिंह जी का 'आनदं रघुनंदन' नाटक इत्यादि । इनमें रामायण महानाटक बीस अंकों का महानाटक है। करुणाभरण छः अंकों में समाप्त हो जाता है। आनंद रघुनंदन' को छोड़कर शेष सभी मौलिक नाटक केवल पद्यात्मक और वर्णनात्मक है। नाटककार सदा रंगमंच पर उपस्थित रह कर पात्र परिचय करता तथा कथा कहता है और वर्णन लिखता है।"[7] ब्रज भाषा का स्थान धीरे धीरे बढ़ता गया। पहले कविता के क्षेत्र और बाद में गद्य के क्षेत्र में। अतः हिंदी या खड़ी बोली का संबंध ब्रज भाषा से ही माना जाता है। इसीलिए खड़ी बोली नाटकों से पूर्व ब्रज भाषा के नाटक हमें प्राप्त होते हैं। ब्रज भाषा काल में अनेक नाटक अनूदित हुए हैं। उनमें प्रबोधचन्द्रोदय, शकुंतला, हनुमन्नाटक, मालती-माधव आदि नाटक प्रमुख है।

इस काल में लिखे गए नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं। जैसे - रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, शकुंतला और समयसार आदि नाटक उल्लेखनीय है। 'रामायण महानाटक' को ब्रजभाषा काल का पहला प्राप्त नाटक माना जाता है, जिसकी रचना 1610 ई. में हुई थी। नाटककार कविवर प्राणचंद ने तुलसीदास के रामचरितमानस की शैली पर 'रामायण महानाटक' लिखे। 'हनुमन्नाटक' की रचना हृदयराम पंजाबी ने 1632 ई. में की। इसका मूल संस्कृत नाटक है पर दोनों कथानकों में अंतर पाया जाता है। 'समयसार' नाटक के आदिकर्त्ता श्री कुंद-कुंदाचार्य मुनि माने जाते हैं। उनका ग्रंथ है 'समय पहुड़ा'। जैनियों में यह ग्रंथ लोकप्रिय है। पहले 'समयसार' नाटक नहीं था। वास्तव में यह एक धर्म ग्रंथ था बाद में अमृतचंद मुनि ने नाटक के रूप में इसे प्रसिद्ध किया। किंतु अमृतचन्द की इस अंक परंपरा और पात्र प्रवेश को बनारसीदास जी ने नहीं अपनाया। उन्होंने एक के बाद दूसरे छंद का प्रयोग किया है।

शकुंतला सन् 1680 में नेवाज कवि का एक प्रसिद्ध नाटक है। इसकों सर्वश्रेष्ठ जाने-माने कवि कालिदास के 'अभिज्ञान शकुन्तल' का छायानुवाद माना जाता है। नेवाज ने शकुंतला को नाटक के रूप में लिखा है। इसीलिए यह नाटक बड़ा सुन्दर और सरस बन गया।

1957 ई. लछिराम ने 'करुणाभरण' नाटक लिखा इस नाटक में कृष्ण जीवन से संबंधित कहानी है। यह नाटक भारतेंदु पूर्व युग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके अनके हस्त लेख प्राप्त होते हैं। इसमें छंदबद्धता और सरसता अत्याधिक मिलती है। इसी कारण यह नाटक बहुत लोकप्रिय हुई। इसी तरह ब्रजभाषा काल के अंतर्गत अनेक नाटकों को देख सकते हैं। ऐसे ही इस काल के नाटकों में – संवाद, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि तत्व भी मिल जाते हैं। इस काल के नाटक सफलता से मंचित हुए हैं। हालांकि इस काल के ब्रज नाटकों को कुछ आलोचकों ने नाटक नहीं माना है। उनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ. सोमनाथ, डॉ. वीरेन्द्रकुमार शुक्ल, बाबू ब्रजरत्नदास आदि विद्वान आलोचक उल्लेखनीय है। इन्होंने पाँच कारणों को लेकर ब्रजभाषा नाटकों को नाटक नहीं माना है। वे कारण इस प्रकार है –1. कथानक में गतिशीलता नहीं है, 2. चरित्र-चित्रण नहीं है, 3. ये छंद प्रधान है, 4. इनकी शैली प्रबंध काव्यात्मक है, 5. नाटकीयता का अभाव है।

अत: कहा जा सकता है कि खड़ीबोली नाटक के आरंभिक विकास में ब्रजभाषा नाटकों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है। भारतेंदु युगीन नाटकों की पृष्ठभूमि में ये नाटक अहम भूमिका निभाएँ हैं।

भारतेंदु युग :

भारतेंदु को हिदी नाट्य साहित्य का आदि-निर्माता माना जाता है। क्योंकि हिंदी साहित्य में नाटकों का वास्तविक आरम्भ भारतेंदु युग से ही हुआ है। यद्यपि हिंदी की नाटक-परंपरा जैसे की ऊपर कहा गया है, पद्यबद्ध नाटकों के रूप में पहले से ही चली आ रही थी। किन्तु भारतेंदु कृत नाटकों को हिदी का सर्वप्रथम नाटक कह सकते हैं। उन्होंने हिंदी के नाटक साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और समकालीन तथा भावी नाटककारों के लिए भी प्रेरणा स्त्रोत बने। 'भारतेंदु युग' में भावों एवं विचारों को जनमानस तक संप्रेषित करने का सर्वोतम साधन नाटक ही था। भारतेंदु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने जीवन के विविध क्षेत्रों से कथावस्तु

का चयन किया। कहीं उसमें सामाजिक समस्याओं का चित्रण है तो कहीं सांस्कृतिक जागरण का दिव्य सन्देश। कहीं-कहीं उनमे एकांतिक प्रेम का भी चित्रण पाया जाता है।

भारतेंदु युग के नाटक लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत हैं। राष्ट्रीय जन-जागरण का यह युग नाटक प्रचार का अत्यंत उपयोगी माध्यम सिद्ध हुआ। इस युग का नाटक-साहित्य वैविध्यपूर्ण रहा। पौराणिक प्रेम-प्रधान, प्रतीकात्मक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि प्रकार के नाटकों की सर्जना इस युग में की गई है। इसका स्वरूप मुख्यतः रंगमंचीय था। भारतेंदु ने स्वयं एक नाटक मंडली की स्थापना की थी और वे एक उत्कृष्ट अभिनेता भी थे। स्वभावतः इन नाटकों में अभिनेता के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। भारतेंदु अपने नाटकों को स्वयं मंचित भी करते थे तथा उनमें स्वयं भी सक्रिय रूप से भाग भी लेते थे। भारतेंदु के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर आधारित है। भारतेंदु ने विविध तरह के नाटकों की सृष्टि की है। भारतेंदु युगीन नाटककारों ने अपने पौराणिक नाटकों की कथावस्तु के लिए राम एवं कृष्ण की लीला से संबंधित धार्मिक ग्रंथों में अंकित लोक प्रसिद्ध घटनाओं को तथा ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु के लिए राजपूत युग के इतिहास को चुना। इन नाटकों में देशप्रेम की भावना का स्वर बुलंद है। चूंकि भारतेंदु युगीन नाटकों का प्रधान उद्देश्य जन-साधारण की प्रगति एवं समाज सुधार रहा है, इनमें तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के चरित्र पर ही अधिक बल दिया गया। फलतः इनकी कथावस्तुओं में अनायास वैविध्य आ गया है। धार्मिक चेतना, सामाजिक कुरितियाँ, नारी की करुणापूर्ण स्थिति आदि का चित्रण इनमें सहज रूप से किया गया है। ऐसे नाटक सामन्यतः प्रहसन के रूप में व्यंग से परिपूर्ण है। भारतेंदु के 'विषस्य विषमौषधम्' और 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' नाटक इस तथ्य को निर्दिष्ट करने वाले उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

'भारतेंदु युग' के नाटककारों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', काशीराम खत्री, राधाकृष्ण दास, अंबिकादत्त व्यास, देवकीनंदन त्रिपाठी आदि उल्लेखनीय है। भारतेंदु ने जीवन के विविध स्तरों से अपने नाटकों की कथावस्तु का चयन किया है। अतः उनके नाटकों में हमें वैविधता के दर्शन होते हैं। उनके कुछ उल्लेखनीय नाटक निम्नलिखित है –

1. पाखंड विडम्बना (1872 ई.) 2. वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति (1873 ई.) 3. सत्य हरिश्चंद्र (1875 ई.) 4. कर्पूर मंजरी (1875 ई.) 5. विषस्य विषमौषधम् (1876 ई.) 6. मुद्राराक्षस (1878 ई.) 7. भारत दुर्दशा (1880 ई.) 8. नील देवी (1880 ई.) 9. अंधेर नगरी (1881 ई.) 10. सती प्रताप (1884 ई.)

भारतेंदु के नाटकों का प्रधान उद्देश्य समाज सुधार रहा है। उनके समय में पारसी थियेटर के नाटकों द्वारा समाज में रोमानियत और ओछी रसिकता का प्रभाव फ़ैल रहा था। जिससे समाज के नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा था। अपने देश की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विरासत को बचाने के लिए उन्होंने सामाजिक और नैतिक मूल्यों से ओतप्रोत नाटकों की रचना की। उन्होंने 'कविता वर्धिनी सभा' (1870), 'पैनी रीडिंग क्लब' (1873) और 'नेशनल थियेटर'(1884) की स्थापना की। भारतेंदु के अधिकांश नाटकों में तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्य उभर कर सामने आये हैं। उदाहरण के लिए उनके 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' में ललनाओं के लिए भारतीय संस्कृति की महत्ता का शुभ संदेश है। इनके मूल में चरित्र-सुधार का उद्देश्य निहित है। 'प्रेमयोगनी' में उन्होंने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। भारतेंदु ने इस काल में व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी सुन्दर सृष्टि की है। इन नाटकों में सामाजिक जीवन की असंगतियों तथा धर्म के मिथ्याडम्बरों पर तीखी चोटें की हैं। भारतेंदु का 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' तथा 'अंधेर नगरी' इसके उत्कृष्ट उदाहरण है। इनमें क्रमशः मांस-मदिरा पर गहरा व्यंग्य तथा अव्यवस्थित राज्य पर गहरी चोट का वर्णन है।

हिंदी नाटकों के इस प्रारंभिक काल में लेखकों का ध्यान अनुवाद की ओर भी गया। भारतेंदु ने मौलिक, अनूदित तथा रूपांतरित तीन प्रकार के नाटक लिखे हैं। संस्कृत से उन्होंने 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय विजय', 'रत्नावली' अनुवाद किया है, तो प्राकृत से कर्पूरमंजरी का, अंग्रेजी से शेक्सपियर कृत 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का दुर्लभबंधु के नाम से अनुवाद किया। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक बंगला का अनुवाद है। तो कुछ विद्वान उसे मौलिक मानते हैं। उन्होंने बंगला से 'विद्यासुन्दरी', 'भारत जननी', 'पाखंड विडंबना' का अनुवाद किया है।

संक्षेप में कहा जा सकत है कि भारतेंदु का नाट्य साहित्य वैविध्यपूर्ण तथा जन-जीवन के बहुत समीप था। उन्होंने अपने नाटकों में अपने समय की सामाजिक परिस्थितयों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है।

प्रसाद युग :

भारतेंदु के पश्चात् हिंदी जगत में प्रसाद जैसे सर्वांगीण प्रतिभाशाली, रचनात्मक व्यक्तित्व से परिपूर्ण साहित्यकार का प्रादुर्भाव हुआ । जिस प्रकार प्रेमचन्द के कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में पदार्पण करने से एक युगांतकारी परिवर्तन आया, उसी प्रकार प्रसाद के नाटक के क्षेत्र में अवतरित होने से हिंदी नाट्य-साहित्य का मानो कायाकल्प ही बदल गया । प्रायः इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना सजीव एवं सशक्त रूप में उभर आई । नारी-जागरण का स्वर भी इन नाटकों में प्रतिबिंबित हुआ है । स्वच्छंदतावादी अभिनय को जन्म देने का श्रेय इसी युग के नाटकों को है । यद्यपि इस युग के नाट्य सर्जकों ने अपने पूर्ववर्ती भारतेंदु युगीन पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक नाट्यधारों को स्वीकार किया फिर भी इस युग के पौराणिक नाटकों की विषय-वस्तु का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं विशाल है । 'प्रसाद युग' के नाटक राम और कृष्ण के चरित्रों से अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित है । नवीन प्रसंगों एवं पात्रों की उद्भावना इन नाटकों की उल्लेखनीय विशेषता है ।

जयशंकर प्रसाद हिंदी में एक ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं । उनके लगभग सभी नाटकों में हमें ऐतिहासिक तत्वों के दर्शन होते हैं । जिससे हमें तत्कालीन भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का पता चलता है । प्रसाद के नाटक हैं – 1.सज्जन (1910), 2.कल्याणी परिणय (1912), 3.करुणालय (1912), 4.प्रायश्चित (1913), 5 राजश्री (1915), 6. विशाख (1921), 7.अजातशत्रु (1922), 8. जनमेजय का नागयज्ञ (1926), 9. कामना (1927), 10. स्कंदगुप्त (1928), 11. एक घूँट (1930), 12. चन्द्रगुप्त (1931), 13. ध्रुवस्वामिनी (1933) आदि ।

'भारतेंदु युगीन' नाटकों की तरह 'प्रसाद युगीन' नाटक भी विविधताओं से परिपूर्ण है । विविध विषयों पर पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक इस युग में भी लिखे गए हैं । ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु प्रायः हिंदू, बौद्ध और मुग़लकालीन इतिहास से ली गई है । इस काल के नाटककारों ने सामाजिक समस्याओं एवं कुरीतियों को उद्घाटित किया है । ढोंगी ब्राह्मणों, पाखंडी समाज सुधारकों, वेश्यागामी पुरुषों, सरकारी पिट्ठुओं, पदलोलुप व्यक्तियों, पश्चिमी सभ्यता से आक्रांत नवयुवक-युवतियों तथा सूदखोर पूंजीपतियों आदि के चरित्रों को विशेष रूप से अंकित किया गया । 'प्रसाद युग' के नाटककारों में विशेष उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं –

बदरीनाथ भट्ट, राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र 'कश्मीरी', नारायण प्रसाद, बेताब', माखन लाल चतुर्वेदी, बलदेव प्रसाद मिश्र, सुदर्शन, जी.पी श्रीवास्तव आदि।

आधुनिक हिंदी नाटक साहित्य के दूसरे प्रभावशाली कलाकार नेता के रूप में जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हुआ। यद्यपि 'भारतेंदु युग' की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के आगमन से पूर्व हिंदी में अनेक नाटक लिखे गये, जिनमें अधिकांश संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी से अनूदित हैं। किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते हैं, अनुवाद के माध्यम से बंगला के द्विजेंद्रपाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिंदी नाटकों पर पड़ा, जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

आधुनिक हिंदी नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन पहली बार जयशंकर प्रसाद के ही नाटकों में देखने को मिलता है। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद की प्रतिभा अद्भुत एवं अपूर्व है। उन्होंने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परंपरा का चित्र उपस्थित करनेवाले उत्कृष्ट नाटकों की रचना की। अपने नाटकों के कथानक महाभारत के उत्तरार्ध काल से सम्राट हर्षवर्धन के काल तक को लिए, क्योंकि यही काल सभ्यता के गौरव का काल था। प्रायः प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता होते हुए भी आधुनिकता की छाप है। ऐतिहासिक अनुशीलन और कल्पना के योग से अपने नाट्यकला में नवीनता की उद्भावना की। इसी प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, दार्शनिक चिंतन, स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, राष्ट्रीयता के प्रति उत्कट आग्रह, संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज करना आदि ऐसी बाते हैं, जो उन्हें हिंदी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करता है। वस्तुतः प्रसाद जी इस क्षेत्र के सम्राट हैं और उन्होंने सर्वप्रथम हिंदी नाटकों में पात्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करके उनमें शिल्प वैचित्र्य का समावेश किया और उनके अंतर्द्वंद्व का कलात्मक चित्रण किया। प्रसाद के नाटकों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने मंगलाचरण, नांदीपाठ तथा प्रस्तावना को अपने नाटकों में सर्वथा बहिष्कृत कर दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सब आवश्यक था। भारतेंदु के बाद हिंदी नाटकों को आयाम प्रदान करने का श्रेय प्रसाद जी को ही दिया जाता है। प्रसाद के नाटक न तो दुःखांत है, न सुखांत बल्कि प्रसादांत हैं। उनके नाटकों का अंत ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना से होता है कि जिसमें नायक की विजय हो जाती है, किन्तु वह स्वयं फल का उपभोक्ता न बनकर प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के वैचित्र्यपूर्ण अंत को ही प्रसादांत की संज्ञा दी गयी है।

प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक होकर भी समस्यामूलक हैं, यह उनकी एक और विशेषता है। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास की विभिन्न कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया है। इन विशेषताओं के बावजूद प्रसाद के नाटकों में अनेक दोष मिलते हैं। उनका कथानक इतना विस्तृत एवं विश्रृंखलित सा होता है कि उससे उनमें शिथिलता आ जाती है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में अनेक ऐसी घटनाओं एवं दृश्यों का आयोजन किया है जो रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं है। लंबे-लंबे स्वागत कथन, वार्तालाप, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म एवं जटिल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग, वातावरण की गंभीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होती है। वस्तुतः अपने नाटकों में प्रसाद दार्शनिक अधिक हैं, नाटककार कम।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधारा के अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं : अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी

द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि । राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ । नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधार लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा । इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी

मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत्व हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत 'दुर्दशा' (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों, बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है, किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। इस प्रकार हिंदी नाटक की परम्परा को भारतेंदु के बाद प्रसाद और उनके सहयोगियों ने आगे बढ़ाया तथा जीवन के सभी पक्षों को अपने नाटकों में समाहित करने का प्रयास किया।

प्रसादोत्तर नाटक

सामान्यतः प्रसाद युग के बाद हिंदी नाटक के नवीन युग का प्रवर्तन होता है। भारतेंदु के पश्चात् प्रसाद को यद्यपि दिशा-प्रवर्तक नाटककार माना जाता है, किन्तु उनके नाटकों को मंच नहीं मिला। प्रसाद ने अपने रोमांटिक दृष्टिकोण के कारण इतिहास के अतीत के साथ समसामयिक जीवन तथा आदर्श को साथ में जोड़कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु उसमें रोमांटिक दृष्टि की कुछ खामियाँ भी रही हैं। प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलतः आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मिद्धम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है।

वस्तुतः उपेन्द्रनाथ अश्क पहले नाटककार हैं, जिन्होंने हिंदी नाटक को रोमांस के कटघरे से निकालकर उसका संबंध किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार

उनके प्रमुख नाटक हैं : 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938) 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार है - सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955) आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों

में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है । उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961),'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है।

सामान्यतः इस युग में ऐतिहासिक कथाओं के सहारे अतीत के माध्यम से वर्तमान समस्याओं की अभिव्यक्ति की गई। आदर्श और भावनात्मक की अपेक्षा यथार्थ और बौद्धिकता पर बल प्रसादोत्तर युग के नाटकों की उल्लेखनीय विशेषता रही। फलतः हिंदी नाटक साहित्य में समस्या प्रधान नाटकों का प्रवर्तन हुआ। समस्या प्रधान नाटकों की ही इस युग में अधिकता रही। प्रसादोत्तर नाटक साहित्य को विषय की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभाजित किया गया है। सबसे पहले वर्ग में उन नाटककारों को रखा जा सकता हैं, जिन्होंने प्रसादयुगीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा को आगे बढ़ाया । इस वर्ग में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि आते हैं।

इब्सन और शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से 'प्रसादोत्तर युग' में अनेक समस्यामूलक नाटक लिखे गए हैं । इन नाटकों को हम दूसरे वर्ग में रख सकते हैं । हिंदी में समस्या प्रधान नाटकों के प्रवर्तक लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं। प्रेम-विवाह, काम, नारी समस्या इनके नाटकों के प्रमुख विषय रहे हैं। इस युग में कुछ ऐसे भी नाटकों की रचना हुई हैं जिनमें सामाजिक समस्याओं के साथ साथ राजनैतिक, आर्थिक, पारिवारिक, समस्याओं को भी अंकित किया गया है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया

उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अद्धर्-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्त कुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के : 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ़्यू' (1972) आदि नाटक हैं। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक है। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या प्रधान नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोक चेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोक रंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कफ़्र्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश

और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुँचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मनःस्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति

के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्र्य की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

इस प्रकार वर्तमान समय के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

1.ख. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ:-

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक :-

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य परंपरा आधुनिकता-बोध के साथ आगे बढ़ती है। इस काल के नाटककारों का स्वतंत्रता के पूर्व के स्वप्नों तथा नेताओं से मोहभंग हुआ। वस्तुतः इस काल का साहित्य द्वितीय महायुद्धोत्तर परिस्थितियों से प्रभावित है, जिन्होनें व्यक्ति के आस्था, विश्वास, सामाजिक रूढ़ियों और जीवन मूल्यों को विघटन की स्थिति में ला खड़ा किया। महानगरों के यांत्रिक जीवन और आर्थिक विषमताओं ने व्यक्ति का एकाकीपन, अजनबीपन तथा महानगरीय संबंधों के खोखलेपन की यंत्रणा से मानसिक विघटन किया। इस मूल्य विघटन तथा विसंगत परिस्थितियों ने साहित्य की प्रत्येक विधा को कथ्य के स्तर पर प्रभावित किया। साहित्य की अन्य विधाओं की भांति नाटकों को भी एक नई दिशा प्राप्त हुई। नाटकों में युगीन परिवेश, व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष और रंगमंचीय तत्त्वों का अद्भुत समन्वय पहली बार दृष्टिगोचर होता है। इन नाटककारों ने इतिहास और पुराण के माध्यम से वर्तमान युग की विसंगतियों और उनमें घुटते मनुष्य के अंतर्द्वंद्व और सामाजिक यातना को सजीव व आर्थिक रूप से मूर्त किया। संस्कृत नाटक के अभिन्न अंग काव्य को पुनः प्रभावशाली रूप से प्रयुक्त करते हुए इन नाटककारों ने जीवंत, नाटकीय संघर्ष और अंतर्द्वंद्व को उभारने में सक्षम भाषा का प्रयोग किया। संस्कृत की पुरानी परम्पराओं के ग्रहण के साथ संगीत, ध्वनि आदि से जुड़े नवीन प्रयोग भी किये। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक जीवन से जुड़ा हुआ नाटक है। कथ्य और शिल्प के नवीनतम प्रयोगों के साथ-साथ समकालीन बोध इस काल की हिंदी नाटकों की

पहचान है। विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक या राजनैतिक हो, जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं जिसे नाटककार ने छुआ न हो। व्यक्तिगत चेतना के साथ-साथ समष्टिगत चेतना को भी महत्त्व देते हुए समकालीन हिंदी नाटककारों ने व्यक्ति तथा समाज से जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों की विशेषता यह है कि परिवेशगत प्रतिबद्धता और रंगमंचीयता प्रतिबद्धता दोनों को साथ लिए वह नाट्य सृजन कर रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य-परिदृश्य को समृद्ध करने में उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, शंकर शेष, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, भीष्म साहनी, हबीब तनवीर, रमेश बक्षी, गिरिराज किशोर, बृजमोहन शाह, मणि मधुकर, विनोद रस्तोगी, कुसुम कुमार, मृणाल पाण्डेय, मन्नू भंडारी, रामेश्वर प्रेम अंचल, असगर वजाहत, राजेश जोशी, दूधनाथ सिंह, स्वदेश दीपक, कृष्ण बलदेव वैद आदि कई नाटककार स्वातंत्र्योत्तर काल में हिंदी नाटक लेखन परम्परागत विषय-वस्तु और आधुनिक विचारों के बोध को समाहित करते हुए आगे बढ़ते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है –

1. मिथक, पुराण तथा इतिहास पर आधारित नाटक :-

इस धारा के नाटककार मिथक, पुराण तथा इतिहास को आधार बनाकर एक तरफ जहाँ हिंदी नाटक की पूर्व परंपरा से जुड़ते हैं वहीं इसे केवल आधार के रूप में लेकर समकालीन मूल्य संक्रांति, युवा पीढ़ी का प्राचीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह, स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंध, महंगाई, घूसखोरी, कालाबाजारी और महानगरीय जीवन तथा समाज में व्याप्त अन्य विसंगतियों का चित्रण कर आधुनिकता-बोध का परिचय दिया। ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों की परंपरा का प्रारंभ हमे भारतेंदु काल से दिखायी देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'नील देवी' से हिंदी में उन ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों की परंपरा का सूत्रपात माना जाता है जिनका मूल उद्देश्य समाज को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा या उपदेश देना होता था। इस समय के नाटकों में तत्कालीन समस्याओं को अतीत के संदर्भ में देखने का प्रयास अवश्य किया, परन्तु उनमें परंपरा को नवजागरण के सन्दर्भ में ही देखा गया। प्रसाद-युगीन ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में, अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को चित्रित कर, राष्ट्रप्रेम जगाने का प्रयास किया जो उस समय की माँग थी। प्रसाद ने अपने नाटकों के द्वारा भारतीय संस्कृति के उदात्त

मूल्यों, राजनैतिक गौरव एवं स्वतंत्रता को पुनःस्थापित करने के लिए तत्कालीन समस्याओं को अतीत के स्वर्णिम फलक पर चित्रित किया था।

इतिहास-पुराण के प्रति स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों की दृष्टि उसके पूर्ववर्ती नाटककारों से काफी भिन्न रही। अतीत का चित्रण करने में जहाँ पूर्ववर्ती नाटककारों में आदर्शवादी पुनरुत्थानवादी दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है वही स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अतीत का उपयोग यथार्थ के धरातल पर किया है। यहाँ इतिहास समकालीन बोध एवं संवेदना का वाहक मात्र बन गया है। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार ने जीवन के परवर्तित मूल्यों को प्रकट करने के लिए अतीत का आश्रय लिया है। जहाँ आधुनिक जीवन की जटिलताओं, कुंठाओं, अंतर्द्वंद्व का चित्रण ऐतिहासिक, पौराणिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। श्री रमेश गौतम के अनुसार "इतिहास के परिपार्श्व से उन्होंने एक क्षण को उपलब्ध किया है जो अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी हो सकता है। अर्थात् इतिहास की स्थूल विभाजक रेखा उस क्षण से टकराकर समाप्त हो जाती है। उनके लिए घटनात्मक इतिहास का कोई मूल्य नहीं अपितु उसके बीच एक दुखता हुआ मार्मिक क्षण है जो समय को अविभाज्य रूप में एक केंद्र पर वहन करता है। लहरों के राजहंस, अँधा युग, सूर्यमुख आदि में ऐतहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के परिप्रेक्ष्य में एक क्षण की उपलब्धि का ही प्रयास है। इन नाटककारों को यह क्षण अतीत से मिला, किसी वर्तमान स्थिति में भी मिल सकता था। अतः उनका ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक होना विशेष महत्त्व नहीं रखता।

जगदीशचंद्र माथुर के प्रथम नाटक 'कोणार्क' (1951 ई.) ने हिंदी नाटक को फिर एक बार रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचनाशीलता के स्तर पर प्रस्तुत करने का उल्लेखनीय तथा महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। द्वितीय महायुद्धोत्तर स्थिति से प्रभावित धर्मवीर भारती का 'अँधायुग' (1954 ई.) अतीत और वर्तमान दोनों स्तरों पर एक साथ बंधा हुआ है। इसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय लिया गया है। युद्ध की भयावहता, निर्दयता एवं युद्धोत्तर त्रासद स्थिति का यथार्थ चित्रण इस नाटक में किया गया है।

मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' (1958 ई.) समकालीन हिंदी रंगमच पर एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में अवतरित हुआ। यह नाटक कालिदास जैसे ऐतिहासिक पात्र को लेकर अवश्य लिखा गया है,

लेकिन इसकी ऐतिहासिकता केवल कालिदास के नाम एवं वातावरण निर्मिति के लिए उपयुक्त शब्दों एवं मंच-सज्जा तक ही सीमित रहती है। वास्तव में इतिहास के कलेवर में यह नाटक समकालीन मनुष्य-मन की दुर्बलता तथा मानसिक द्वंद्व को दर्शाता है। कालिदास के चरित्र पर केंद्रित होने के बावजूद यह नाटक कालिदास की प्रेमिका मल्लिका के निःस्वार्थ प्रेम को भी दिखाता है। कालिदास को महान बनाने के लिए अपने जीवन को नष्ट कर देती है। इस नाटक में समकालीन जीवन से संबंधित कला और प्रेम, सृजनशील व्यक्ति और परिवेश भावना और कर्म, कलाकार और राज्य आदि कई प्रकार के द्वंद्वों की अभिव्यक्ति हुई। इसी तरह सुरेन्द्र वर्मा के आठवाँ सर्ग (1973) में अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य तथा श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को उठाया है। इसमें भी ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से समकालीनता को स्वर मिला है।

डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल के 'कलंकी'(1969 ई.), मिस्टर अभिमन्यु (1971ई.), एक सत्य हरिश्चंद्र(1976 ई.) जैसे नाटक पौराणिक मिथकों के आधार पर समकालीन जीवन का प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं। कल्कि अवतार के मिथक पर आधारित उनका नाटक 'कलंकी' व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ-साथ यथा स्थिति को प्रश्रय देनेवाली स्वार्थी, शोषक ताकतों की कुटिलता और परिवर्तन के इंतजार में बैठी जनता की मानसिकता का चित्रण करता है। 'मिस्टर अभिमन्यु' नाटक में अभिमन्यु ने मिथक के माध्यम से समकालीन जीवन की विसंगत परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फँसे मनुष्य की विडंबना को दर्शाया है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' नाटक में पौराणिक हरिचन्द्र के पारंपरिक सत्य को आधुनिक सन्दर्भ से जोड़कर उसमें समकालीन जीवन-परिवेश को प्रस्तुत किया है। इस नाटक में धर्म, राजनीति और अर्थ-शक्ति के सामने सदियों से यातना झेलते आ रहे आम आदमी की त्रासदी और जीवन-सत्य को दर्शया गया है।

भीष्म साहनी ने 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक में उनके काल की धर्मान्धता, अनाचार और तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके निर्भीक, सत्यान्वेषी, प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश की है। नाटक की भाषा में अवधी, भोजपुरी के शब्द तथा गीतों का प्रयोग करके लोक-नाट्य का परिवेश उपस्थित किया है। 'माधवी' नाटक में नारी शोषण की समस्या को उठाया गया है। विविध यंत्रणाओं और संघर्षों से जूझने वाली नारी की व्यथा कथा का जीवंत नाटक है 'माधवी'। 'असरदार' मिथकीय नाटक है।

गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', महाभारत युद्ध के दुष्परिणाम दिखाने के बहाने समकालीन राजनीति के भ्रष्ट चरित्र एवं मानवीय संबंधों में आनेवाली बदलावों को दर्शाता है। इसमें चित्रित सत्ता-प्राप्ति की लालसा को आज भी हम देख सकते हैं। ऐसे कितने ही धृतराष्ट्र हैं जो सत्ता को छोड़ना नहीं चाहते हैं। इस नाटक में द्रौपदी को प्रजा का प्रतीक माना गया है जिसमें मुक्ति के लिए छटपटाहट है। शिव-सती के पौराणिक आख्यान पर आधारित दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी' जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपके हुए लोगों के सन्दर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करते हैं।

इसके अतिरिक्त शंकर शेष, लक्ष्मीकांत वर्मा, नंद किशोर, हमीदुल्लाह, बृजमोहन, दूधनाथ सिंह, अनुपम कुमार जैसे अनेक नाटककारों ने अतीत के माध्यम से समकालीन परिवेशगत यथार्थ को हमारे सामने रखा है।

2. राजनीतिक चेतना प्रधान नाटक:-

देश के राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त दिशाहीनता, मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरकता, उत्तरदायित्त्वहीनता, आपसी मनमुटाव, भाई-भतीजावाद आदि कुप्रवृत्तियों से स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार असम्पृक्त नहीं रह पाया है। वैसे तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 'राम राज्य' का सपना साकार होने के लिए देश की जनता ने जो कामना की थी, उससे बहुत जल्दी ही मोहभंग हो गया था। आम आदमी को सत्ता से हुए मोहभंग का स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में अभिव्यक्ति भी मिली है। आपातकाल के दौरान भारतीय जनता को तानाशाही के बाद हिंदी नाटकों में व्यक्त सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों के प्रति विरोध का स्वर एकदम प्रखर एवं धारदार बनता गया। आपातकाल के दौरान भारतीय जनता को तानाशाही के नये अवतार का सामना करना पड़ा और भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कुछ ऐसी उथल-पुथल देखने को मिली जिसने केवल हिंदी प्रदेशों में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन को अपनी जड़ों तक हिला दिया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंग्रेजों के पश्चात् फिर एक बार अंकुश लग गया था। परिवेशगत, विसंगतियों, विडंबनाओं की शिकार बनी बेबस आम जनता में शासन, सत्ता की निरंकुशता के प्रति विद्रोह एवं आक्रोश की भावना घर करने लगी थी। ऐसी स्थिति में जनता राजनैतिक आतंक का शिकार बनी, जनता का प्रतिनिधि स्वर बन साहित्य की अन्य विधाओं की तरह हिंदी नाटककारों ने भी अपने नाटकों के माध्यम से समय के मिजाज को वाणी देने लगे।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने समकालीन राजनीतिक परिवेश में व्याप्त अनैतिकता, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, आपराधिकता जैसे तमाम समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया। समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि स्त्री-पुरुष संबंधों या फिर तथाकथित आभिजात्य सौंदर्य-बोध के गंभीर नाटकों की अपेक्षा सामाजिक और राजनैतिक व्यंग्य नाटकों की रचना बड़ी मात्रा में हुई है। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार अपने नाटकों के माध्यम से आम जनता की दयनीय स्थिति और त्रासद नियति के लिए जिम्मेदार ताकतों के चेहरों को बेनकाब करता है और जनता में विद्रोह का स्वर पैदा कर, उसे अन्याय और शोषणकर्त्ताओं के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी में व्यवस्था-विरोध एवं सामाजिक-राजनैतिक व्यंग्य नाटकों की परंपरा का प्रारंभ करने में 'अंधेर-नगरी' जैसे प्रहसन लिखकर अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में इतनी तीव्रता के साथ परिवर्तन आया कि उसका पूरा स्वरुप ही बदल गया। विदेशी-शासक से भी भयंकर सत्ताधारी राजनीति में छा गये, जिनके बदौलत मानव-मूल्यों का सर्वाधिक अवमूल्यन होने लगा। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार ने अपने नाटकों के माध्यम से राजनीतिक विद्रूपता को जनता के सामने रखा और उनके माध्यम से राजनीति की बहुआयामी विसंगतियों पर करारा व्यंग्य करना प्रारंभ किया। इस दृष्टि से ज्ञानदेव अग्निहोत्री का नाटक 'शुतुरमुर्ग'(1968 ई.) महत्त्वपूर्ण है। जिसमें नेताओं के शुतुरमुर्गी, पाखंडी, ढोंगी और स्वार्थी चरित्र को दिखाया गया है। समसामयिक राजनीतिक गतिविधियों पर व्यंग्य करते हुए इसमें बड़ी-बड़ी निर्माण योजनायें झूठी उम्मीदें, भ्रष्टाचार, समस्याओं की समीक्षा समितियाँ और उनका खोखलापन झूठी शक्ति के लिए जन-साधारण की भावनाओं से खिलवाड़ करने की प्रवृत्ति का चित्रण किया गया है। 'शुतुरमुर्ग' के प्रतीक द्वारा ऐसे शासक को दिखाया गया है जिसे अपनी जनता के दुःख-दर्द से कोई लेना-देना नहीं है। अपने सिंहासन को सुरक्षित बनाए रखने के लिए राजा स्वयं अपने मंत्रियों तक को भ्रष्टाचारी बनाता है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी'(1974 ई.) नाटक हमारी राजनीति के स्तरहीन, विद्रूप चरित्र को बेनकाब करता है। बकरी गांधीवादी सिद्धांतों की प्रतीक है जिसकी आड़ में अनपढ़, भोली-भाली धर्म-भीरू जनता को ठगने के लिए ये जन-सेवक गांधीजी के आदर्शों का इस्तेमाल करते हैं जिन्होनें राजनीति में चरित्र और नैतिकता का महत्त्व स्थापित करना चाहा था। वस्तुतः 'बकरी' समकालीन व्यवस्था के जन-विरोधी, स्वार्थी, जन-नेताओं के

व्यक्तित्व पर कड़ा व्यंग्य करता है जो धार्मिक और राजनैतिक आतंक के माध्यम से आम जनता को हमेशा चूसते रहते हैं। अंत में युवक द्वारा गांववालों में जागृति पैदा करके, लूटेरों की पराजय और दुनिया को बदल डालने के संकल्प के साथ नाटक की आशावादी समाप्ति होती है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'अब गरीबी हटाओ'(1981 ई.) में राजतन्त्र और लोकतंत्र इन दोनों सहसन-पद्धतियों में शोषक वर्ग के अत्याचारों का शिकार बनने वाली जनता की असहाय स्थिति का चित्रण किया है।

सुशील कुमार सिंह बहुचर्चित व्यंग्य नाटककार हैं, जिन्होंने अपने नाटकों में जनता और सत्ता के संघर्ष को चित्रित करते हुए समाजवाद के झूठे नारों के पीछे दबे दमन, अत्याचार और शोषण को व्यक्त किया है। 'सिंघासन खाली है'(1974 ई.) नाटक में नाटककार को अभी भी सुपात्र की तलाश है। कुर्सी पर बैठते ही आदमी की नीयत में किस प्रकार परिवर्तन आ जाता है और वह किस प्रकार शोषक सा रूप धारण कर लेता है, यह दिखाया गया है।

शरद जोशी के 'अंधों का हाथी'(1976 ई.) एवं 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद खां'(1977 ई.) लघु-नाटकों में राजनैतिक उथल-पुथल और सत्ता-संघर्ष के व्यापक परिणामों से प्रभावित आम आदमी के जीवन की विडंबना और त्रासदी को पूरी सच्चाई से चित्रित करते हैं। इस नाटक में आपातकालीन राजनीतिक अराजकता पर व्यंग्य है। नवाब सत्ता का प्रतीक है तो कोतवाल प्रशासन का और इनके माध्यम से नाटककार ने समकालीन राजनीति की चरित्रहीनता और मूल्यहीनता तथा अपने स्वार्थ की पूर्ती के लिए सत्ताधारी आम आदमी को उल्लू बनाकर किस तरह उसका इस्तेमाल किया जाता है, यह दिखाया है। चिंतकों के माध्यम से हमारे तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग को सुविधाभोगी, स्वार्थी, सिद्धान्तहीन एवं सत्ताधारियों के इशारों पर नाचनेवाली प्रवृत्ति पर करारा व्यंग्य किया है। जो चिंतक सत्ता के विरुद्ध विचार प्रकट करने का साहस करता है और उसे मौत दे दी जाती है। वास्तव में यह नाटक मनुष्य और पशु के अंतर को न देख अमानुषिक इस्तेमाल करनेवाली मर्यादाहीन सत्ता का यथार्थ चित्रण करता है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के 'अब्दुल्लाह दीवाना'(1973 ई.) में भ्रष्ट राजनीति, सत्ता के दुरूपयोग तथा पंगु न्याय-व्यस्वस्था का यथार्थ चित्र खींचा गया है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'चतुर्भुज राक्षस'(1973 ई.), 'गंगा माटी' (1977 ई.) जैसे नाटकों में राजनीति के विसंगत चरित्र, नेताओं की स्वार्थी दमनकारी प्रवृत्ति, सत्तालोलुप तथा भ्रष्ट प्रशासन का यथार्थ चित्रण किया गया है।

विभु कुमार ने अपने नाटक 'तालों में बंद प्रजातंत्र' में यह सच्चाई दिखाने का प्रयास किया है कि आजादी मिलने के बाद भी हमारे देश में प्रजातंत्र आज भी स्वार्थी नेताओं की बदौलत तालों में बंद पड़ा है। सत्ताधारी वर्ग युवा-शक्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए किस प्रकार करता है यह भी नाटककार ने दिखाया है। बृजमोहन शाह ने अपने नाटक 'त्रिशंकु'(1973 ई.) द्वारा विभिन्न अधिकार-प्राप्त वर्गों की काली करतूतों से हमें अवगत करवाते हैं। नाटककार यह दर्शाना चाहता है कि शासक-वर्ग अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर जनता का शोषण कर रहे हैं। ये नाटक यह दिखाता है कि वोट पाने के लिए नेता किसी भी हद तक जा सकते हैं।

असगर वजाहत ने अपने नाटक 'इन्ना की आवाज' में सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति रखनेवाले व्यक्ति को अपनी सत्ता एवं ताकत के बल पर सत्ताधारी किस प्रकार शक्तिहीन करता है यह दिखाया गया है। इन्ना की आवाज की ताकत से घबराकर, सुल्तान उसकी आवाज को शक्तिहीन करने के लिए उसे व़जीर-ए-आज़म बना देता है। इन्ना के पास सुविधापरक जिंदगी आ जाती है, परन्तु वह अपनी अवाज खो देता है जिसके स्वर कभी पूरी आवाम को बंधकर रखते थे। व्यवस्था इस प्रकार इन्ना की आवाज को मार देती है। दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली का 'शम्बूक की हत्या', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' जैसे नाटक इतिहास, पुराण तथा अतीत की पार्श्वभूमि में समकालीन राजनीतिक माहौल का यथार्थ चित्रण करते हैं।

इन नाटकों के अतिरिक्त 'नुक्कड़ नाटकों' की धारा आजकल फिर एक बार काफी लोकप्रिय होती जा रही है जो हमारी प्रतिबद्ध राजनैतिक, सामाजिक चेतना को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गयी है। इस दृष्टि से सफ़दर हाश्मी (हल्ला बोल), जन नाट्य मंच (औरत, मशीन, पुलिस, चरित्रम), राजेश कुमार का (हमें बोलने दो) आदि कई नुक्कड़ नाटक, कलाकारों की सिद्धान्तगत प्रतिबद्धता का परिचय कराते हैं।

राजनीति में व्याप्त धोखेबाजी, नारेबाजी, छल-कपट, मूल्यहीनता, अवसरवादिता, सत्तालोलुपता, बढ़ते अपराधीकरण जैसे कुप्रवृत्तियों के कारण आम जनता का राजनीति, देश की शासन-व्यवस्था, प्रजातंत्र प्रणाली पर से विश्वास उठता जा रहा है। जनता के मन के आक्रोश को स्वयं अनुभव करते हुए समकालीन हिंदी नाटककारों ने

राजनीतिक गतिविधियों एवं समस्याओं को कथ्य रूप में स्वीकृत कर, व्यवस्था की विद्रूपता एवं विडम्बनाओं को अपने नाटकों के माध्यम से यथार्थ रूप में दिखाने का प्रयास किया है।

3. असंगत नाटक:-

असंगत नाटक वर्तमान जीवन की विसंगति एवं त्रासदी को उजागर करता है। जीवन में मूल्यहीनता नैतिक पतन तथा मर्यादाहीनता की जो स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बनी उसी स्थिति में असंगत नाटक की शुरुआत हुई। एजरापाउंड, कामू और सात्र के प्रभाव ने इनके आधार को मजबूत बनाया। इन लेखकों ने तार्किकता में अविश्वास जताया। इस प्रकार मोह-भंग की स्थिति बनी। असंगत नाटकों में जीवन का बाह्य यथार्थ न होकर आंतरिक यथार्थ होता है। इनमें कथानक, चरित्र आदि के गठन और उसकी संगति पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। रंगमंचीय सापेक्षता को ध्यान में रखकर इनमें केवल उन स्थितियों का चित्रण होता है जो आम आदमी की पीड़ा व्यक्त करती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का लोप कथाहीनता, बेतुके उल-जलूल संवाद यहाँ तक एक दूसरे से असम्बद्ध दिखाई देने वाली स्थितियां असंगत नाटक की विशेषताएँ हैं।

हिंदी में असंगत नाटक की परंपरा की शुरुआत भुवनेश्वर ने 'ऊसर' (1938 ई.) तथा 'ताबें के कीड़े' (1946 ई.) से मानी जाती है। लेकिन उसे स्वतंत्रता के बाद आगे बढ़ाने के काम विपिन कुमार अग्रवाल ने किया। उन्होंने 'तीन अपाहिज', 'लोटन' आदि रचनाओ में जीवन के बेतुकेपन तथा विसंगत स्थितियों अथवा मनः स्थिति दिखाया है। उनके पात्र स्वयं अपनी पहचान भूल गए हैं।

मणिमधुकर की रचना 'रस गंधर्व' लोक तत्व और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का नाटक है इसमें पात्र अ, ब, स, द प्राचीन परिवेश के साथ वर्तमान जीवन की निस्सारता एवं विसंगतियों को व्यंग्य रूप में चित्रित करते हैं। वस्तु शिल्प और रंग सज्जा तीनों स्तरों पर यह विसंगत नाटक का बोध करवाता है।

रामेश्वर प्रेम ने भी 'कैप', 'आजाद घर' और 'चारपाई' नाटकों की रचना कर असंगत नाटकों की परंपरा में अपना योगदान दिया है। सत्यव्रत सिन्हा 'अमृतपुत्र' लक्ष्मी नारायण लाल 'सबरंग', 'मोहभंग', काशीनाथ सिंह

‘घोआस’, लक्ष्मीकांत वर्मा ‘रोशनी एक नदी है’ आदि नाटकों में भी आधुनिक समाज के विसंगतियों को प्रस्तुत किया गया है।

4. काव्य नाटक:-

गीति नाटकों की धारा हिंदी की अपनी पैतृक संपत्ति है जिसके लिए वह संस्कृत का ऋणी नहीं है। जिसकी परम्परा ‘सरस्वती’ के धारा के समान लुप्त अथवा प्रकटरूप में युग-युगांतर से चली आ रही है। रास हिंदी नाटकों की स्वतंत्र शैली है, जिसके प्रभाव से आगे चलकर गीति नाट्य की रचना हुई। इस प्रकार दशरथ ओझा हिंदी गीति नाट्य परम्परा को रास साहित्य से जोड़ते हैं। हिंदी गीति नाट्य की परम्परा जयशंकर प्रसाद के ‘करुणालय’ से आरम्भ होती है और उसके बाद ‘अनघ’ (मैथलीशरण गुप्त), ‘उन्मुक्त’ (सियाराम शरण गुप्त), ‘प्रसंग’ (निराला) ‘तारा’ (भगवतीचरण वर्मा) आदि हिंदी के गीति नाट्य की परम्परा को गति देते हैं।

गीति नाट्य में भी भाव रूप से नाटकीय तत्व ही निहित होते हैं। गीति शिल्प के रूप में उसमें गुंथे होते हैं। सफल गीति नाट्य रचयिता को इस बात से बराबर सावधान रहना पड़ता है कि गीति तत्व की आवश्यकता न होने वाले अन्यथा तत्व दबने लगते हैं, जबकि प्रधानता उन्हीं की होनी चाहिए। गीति काव्य में भावात्मकता, काव्यात्मकता, छंदबद्धता, पद्य, तुक और गेयता का अभाव, चरित्रों के प्रतीकात्मकता तथा बाह्य द्वंद की जगह अन्तर्द्वन्द और बिम्ब प्रधान भाषा आवश्यक तत्व है। इसमें नाटक और कविता के तत्व का समन्वय होता है। संक्षेप में गीति नाट्य रूपक का ही एक भेद है जिसका प्राण तत्व है भावना अथवा मन का संघर्ष और माध्यम है कविता।

हिंदी गीति नाट्य की परम्परा स्वतंत्रता-पूर्व प्रचलित थी। उसे प्रौढ़ रूप स्वतंत्रता के बाद प्राप्त होता है। स्वत्रंतता के बाद आधुनिकता बोध के धरातल पर आगे बढ़ते हुए ये गीति नाट्य अपने समय का यथार्थ को चित्रण करते हैं। इसकी शुरुआत धर्मवीर भारती की रचना ‘अंधायुग’ से होती है। ‘अंधायुग’ में नाटकार ने महाभारतकालीन परिस्थितियों को आधुनिक बोध के संदर्भ में हमारे सामने रखा है।

नरेश मेहता ने ‘संशय की एक रात’ गीति नाट्य में पौराणिक कथा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। सीताहरण के पश्चात सीता को रावण से मुक्त करवाने या न करवाने राम की इसी संशय शैली को नरेश महेता ने

संवाद शैली में प्रस्तुत किया है। दुष्यंत कुमार द्वारा रचित 'एक कंठ विषपायी' भी एक गीति नाट्य है। प्रस्तुत गीति नाट्य के माध्यम से आधुनिक युग की राजनीतिक, भूख-हड़ताल, युद्ध की विभीषिका, अमानवीयता और पुरानी अप्रासंगिकता पर विचार किया है। इस रचना में कथात्मकता ज्यादा है नाटकीयता कम। गीति नाट्य की प्रमुख प्रवृत्ति अनुभूति और अंतर्द्वंद का इसमें अभाव है। अज्ञेय का 'उत्तर प्रियदर्शी' भी गीति नाट्य परंपरा की एक कड़ी है। इसमें अशोक के जीवन की एक घटना को मुख्य आधार बनाया गया है।

लेकिन विशेष बात यह है कि गीति नाट्यों की कथावस्तु मुख्यरूप से ऐतिहासिक पौराणिक होते हुए भी आधुनिक युग की समस्याओं तथा जीवन को प्रस्तुत करती है। अतीत और परम्परा इन नाटकों का आधार है और उद्देश्य वर्तमान की अभिव्यक्ति और प्रस्तुति।

5. सामाजिक यथार्थ लोक-नाट्य तथा अन्य विशेषताओं के नाटक:-

हिंदी नाटक की विभिन्न परम्पराओं के समानांतर एक अन्य नाट्य परंपरा सामाजिक नाटकों की है जिनका आधार सामाजिक समस्याएँ तथा समाज की घटनाएँ हैं। तत्कालीन परिवेश का यथार्थ चित्रण ही इनमें होता है। इन नाटकों में भारतीय लोक जीवन की वास्तविकता को बिना किसी का मुलम्मा चढ़ाए प्रस्तुत किया गया है तथा यथार्थ से सीधे साक्षात्कार के लिए इन नाटकों में लोक-नाट्यों की विभिन्न शैलियों, लोक-कथाओं और लोक-कलाओं से पर्याप्त सामग्री ली गयी है।

सामाजिक नाटकों में मुख्य रूप से मध्यवर्गीय परिवारों को चित्रित किया गया है। इनकी कथावस्तु का आधार विवाह, प्रेम, नैतिकता, अनैतिकता, गरीबी, पुराने मूल्यों का विघटन, घूसखोरी, बेरोजगारी, पति-पत्नी के कटुतापूर्ण संबंध, ठेकेदारी, चोरबाजारी, सेक्स, उच्च शिक्षा, छुआ-छूत, दहेज, रहन-सहन का दर्जा, कुंठा, राजनीति, वर्ग संघर्ष और हड़ताल आदि है। स्वतंत्रता के बाद नाटकों की परम्परा में विनोद रस्तोगी ने 'आजादी के बाद' नाटक में पूंजीवाद और शोषकों के वास्तविक रूप को उजागर किया है। तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमताओं को नाटककार ने गीतों के माध्यम से भी चित्रित किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'अंजो दीदी', 'अलग-अलग रास्ते' आदि नाटकों की रचना की है। उन्होंने अपने नाटकों को प्रायः नायिका प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'अँधा-कुआँ', 'सुंदर रस', मादाकैक्टस', 'रक्त कमल', 'दर्पण' आदि सामाजिक नाटकों की

रचना करके नाट्य परंपरा को आगे बढ़ाया है। 'मादा कैक्टस' भारतीय समाज में नारी के मूल्यांकन को लेकर रूपायित किया गया है। नाटककार ने नाटक में नारी को मादा कैक्टस का प्रतीक माना और पुरुष को नर कैक्टस का। नाटक में कैक्टस नये इंसान का प्रतीक बन गया है। दर्पण में भी सामाजिक समस्या का चित्रण हुआ है।

'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय परिवार की वास्तविक समस्या, आर्थिक समस्या तथा उससे प्रभावित संबंधों, जीवन मूल्यों तथा विघटन पर प्रकाश डाला है। अमृत राय ने 'चिंदियों की झालर' में स्वतंत्रता पश्चात मोहभंग, मूल्यहीनता तथा आधुनिक भारतीय जीवन में पीढ़ियों की परंपरा टकरावों को प्रस्तुत किया है।

मणि मधुकर के नाटक 'दुलारी बाई' और 'इकतारे की आँख' लोक नाट्य तथा लोक-कथाओं को लेकर चलते हैं। 'दुलारी बाई' में हास्य व्यंग्य के पूत के साथ प्रतीकात्मक शैली में पारसी रंगमंच और राजस्थान के कुचामणि ख्याल की शैली का उपयोग करते हुए आम आदमी के स्वप्नों, संकल्पों और आकांक्षाओं की कथा को प्रस्तुत की गई है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' भी सामाजिक यथार्थ और लोक-नाट्य परंपरा की आधुनिक कड़ी है। इसमें लेखक ने आधुनिक भारत में गाँव की दुर्दशा तथा लोगों का शोषण, दलगत गंदी राजनीति, पुलिस और नेताओं की मिली-भगत तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में पनपती जागृति को चित्रित किया है। लोक नाट्यों की परंपरा में हबीब तनवीर ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने 'जमादारिन', 'कागज का पुतला', 'आगरा बाजार', 'गाँव का नाम ससुराल' आदि लोक शैली के नाटकों की रचना की।

6. मानवीय संबंधों का चित्रण:-

मानवीय संबंधों की संश्लिष्टता, रहस्यात्मकता ने हिंदी नाटककारों के रचनात्मक अन्वेषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उनकी समस्त बारीकियों जटिलताओं सहित, मानवीय संबंधों के विभिन्न रूपों को स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अपने नाटकों में चित्रित करने का प्रयास किया है। बदलते राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवेश में मानवीय संबंधों एवं उनके पारंपरिक रूपों में काफी परिवर्तन आया है। जहाँ संयुक्त परिवार

एकल परिवार में परिवर्तित हो गये वहीं खुद व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में दूरियाँ आने लगी हैं। संबंधों की नींव प्रेम, विश्वास, त्याग की अपेक्षा स्वार्थ, अविश्वास पर रखे जाने से उनमें शुष्कता एवं निस्सारता आने लगी हैं। स्त्री-पुरुष, मात-पिता तथा बच्चे भाई-बहन, मित्र हर प्रकार का रिश्ता केवल दिखावे भर का ही रह गया है। ऐसे अविश्वास भरे माहौल में आदमी खुद अपने-आप के लिए भी अजनबी बनता जा रहा है, भीड़ में रहकर भी अकेलेपन की त्रासदी से ग्रस्त है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने मानवीय संबंधों के चित्रण के अंतर्गत स्त्री-पुरुष संबंधों का प्रमुख रूप से चित्रण किया है।

मोहन राकेश कृत 'लहरों के राजहंस' नाटक का कथावस्तु अश्वघोष के सौंदरानंद पर आधारित है। इसमें आसक्ति और विरक्ति के बीच फँसे नंद की स्थिति दुविधापूर्ण हो जाती है। सुंदरी के पास रहकर वह बुद्ध के पास जाने को व्याकुल हो जाता है और जब बुद्ध के पास होता है तो सुंदरी से मिलने को। पर वह किसी के पास खुश नहीं रह पाता है।

सुरेन्द्र वर्मा का 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक'(1975 ई.) नाटक पति-पत्नी के परंपरागत संबंधों की जड़ता के अँधेरे से स्वच्छंदता की पहली प्रकाश किरण तक की यात्रा को दिखाया है। राज्य को उत्तराधिकारी दे पाने में असमर्थ राजा ओक्काका से निराश होकर आत्मय परिषद, पति-पत्नी की इच्छा के विरुद्ध वियोग के माध्यम से रानी शीलवती को पुत्र प्राप्त करने का आदेश देती है। यह घटना पति-पत्नी के शांत जीवन को तहस-नहस कर देती है।

बदलते परिवेश में पारिवारिक संबंधों में आ रहे ठंडेपन तथा पीढ़ियों के संघर्ष को स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार ने अपने नाटकों में सफलता से चित्रित किया है। मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे'(1969 ई.) आधुनिक जीवन की त्रासद स्थिति का चित्रण करता है जहाँ हर कोई पूर्णता की तलाश में भटकता हुआ आधा-अधूरा है। इसी अधूरेपन को मिटाने की इच्छा सावित्री को कई पुरुषों से संबंध रखने की स्थिति में पहुँचाती हैं। पति, पत्नी और उनके बच्चों के बीच के तनावपूर्ण, खोखले संबंधों को चित्रित करती हुई मध्यवर्गीय परिवेश की सारी विसंगतियाँ, संबंधों की कड़वाहट, भीषण तनाव नाटक में उभरकर आये हैं।

शंकर शेष का 'घरौंदा'(1974 ई.) नाटक परिस्थिति के दबाव में विवश मनुष्य, स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रेम जैसे नाजुक संबंध तक को दाँव पर किस तरह लगया है, यह दिखाया है। अपने काम को निकलवाने के लिए किसी का भी इस्तेमाल करने की महानगरीय प्रवृत्ति को दर्शाते हुए इस नाटक के माध्यम से लेखक ने मूल्यों की स्थिरता का प्रश्न उठाया है। विष्णु प्रभाकर के नाटक 'युगे-युगे क्रांति' में पीढ़ी दर-पीढ़ी भारतीय समाज में, वैवाहिक संबंधों में आ रहे बदलावों का चित्रण किया गया है।

7. सांप्रदायिकता तथा वर्ण-वर्ग विषमताएँ:-

हमारे देश विभिन्न धर्मों, जातियों, संप्रदायों में बँटा हुआ है। लेकिन यथार्थ इससे बहुत ही अलग है। बाहर से लगता है कि सब कुछ ठीक चल रहा है लेकिन अंदर से सांप्रदायिकता तथा जातिवाद के कीड़े ने हमारी पूरी सामाजिक व्यवस्था को कुत्तर कर रख दिया है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद भी धार्मिक कट्टरता, जातिवाद का जहर समाज में फैलती जा रही है। पहले जमींदार थे फिर मिल-मालिक, उसके बाद दफ्तर या कंपनी के बॉस और अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से पूरे देश का आर्थिक-सांस्कृतिक शोषण किया जा रहा है। यह कहा जाता है कि इस नयें दौर में मध्यवर्ग का जीवन-स्तर काफी अच्छा हुआ है। लेकिन सच्चाई यह है कि आज भी हमारे देश में अमीर और अमीर होता जा रहा है और गरीब और भी गरीब होता जा रहा है। पैसे तथा सत्ता के बल पर गरीब, कमजोर लोगों का शोषण जारी है। समकालीन परिवेश में व्याप्त इन विसंगतियों को हिंदी नाटककार ने अपने नाटकों का विषय बनाया है। दरअसल अपने नाटकों के द्वारा वह सांप्रदायिकता, जातिगत संकीर्णता को मिटाने तथा शोषितों को शोषकों से लड़ने के लिए प्रेरित करता है।

उपेन्द्रनाथ अश्क का नाटक 'तूफान से पहले' विभाजन के समय देश में घटित सांप्रदायिक वैमनस्य और दंगों के विरुद्ध लिखा गया है। भीष्म साहनी के नाटक 'मुआवजे'(1993 ई.) में हास्य-व्यंग के माध्यम से नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए सांप्रदायिक दंगों का कैसे एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिचन्द्र'(1976 ई.) में हरिजन समस्या को उठाते हुए ऊँची और नीची जाति के संघर्ष को दिखाया गया है। हरिजनों को धर्म का आतंक दिखाकर, राजनीतिक आंतक एवं हिंसा द्वारा उनका शोषण किया जाता है। आधुनिक समाज व्यवस्था में जात-पात के आधार पर पिछड़े लोगों का सवर्णों तथा

सत्ताधारी स्वार्थी शक्तियों द्वारा किए जा रहे शोषण को यह नाटक दिखाता है। राकेश का 'रामलीला' सांप्रदायिकता जैसे ज्वलंत सामाजिक राजनीतिक प्रश्न को उठता है। 'रामलीला' की पार्श्वभूमि में कपटी, धूर्त, धनी लोग अपने स्वार्थ के लिए किस तरह गरीब जनता की सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काकर दंगे करवाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। उनके षड्यंत्र का शिकार हो गरीब जनता अपने ही हाथों अपना विनाश कर देती है।

8. भ्रष्ट व्यवस्था:-

समकालीन व्यवस्था के भ्रष्ट घिनौने रूप को स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अपने कथ्य का विषय बनाया है। प्रशासन में फैली भ्रष्टता, रिश्वतखोरी, मनमानी तथा उत्तरदायित्वहीनता जैसी दुष्प्रवृत्तियों को कथ्य बनाकर नाटक लिखे गये हैं। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'अब्दुल्ला दीवाना'(1973 ई.) में अब्दुल्लाह के कत्ल के मुकदमें को केन्द्रीय बिंदु बनाकर नाटककार ने अपंग-न्याय व्यवस्था, भ्रष्ट राजनीति, झूठी धार्मिकता एवं अवसरवादी वृत्ति को दिखाया है। कुसुम कुमार के नाटक 'दिल्ली ऊँचा सुनती है'(1982 ई.) में प्रशासनिक अकर्मण्यता के विषय को उठाते हुए सरकारी कार्यालयों में बढ़ती जा रही लापरवाही, कर्मचारियों की मनमानी करने की प्रवृत्ति, रिश्वतखोरी, उत्तरदायित्वहीनता और इस सबसे आम आदमी को मिलने वाली पीड़ा को दिखाया गया है। यह नाटक सेवानिवृत्त माधोसिंह नामक एक ऐसे बुजुर्ग की कहानी बताता है जिसकी पेंशन प्रशासन की जरा-सी गलती के कारण रुक जाती है। जिंदा होते हुए भी प्रशासन की फाइलें उन्हें मृत घोषित कर देती है। माधोसिंह एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर तक दर-दर की ठोकरे खाता हुआ यह गलती सुधारने का प्रयास करता है। जब उसकी पेंशन की समस्या हल हो जाती है तब तक उसकी बेटी आर्थिक तंगी के कारण आत्महत्या कर चुकी होती है और खुद माधोसिंह को मरे हुए चार महीने बीत चुके होते हैं।

9. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की शिल्पगत विशेषताएँ:-

नाटक संबंधी पारंपारिक धारणाओं को व्यावहारिकता की कसौटी पर कसते हुए, समकालीन हिंदी नाटककारों ने एक ऐसे नाट्य-शिल्प को खोजने का प्रयास किया है जिसके माध्यम से वह अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति को प्रभावी ढंग से दर्शकों तक संप्रेषित करने में सफल हो सके। समकालीन जीवन की जटिलताओं,

विसंगतियों विडम्बनाओं को सशक्त रूप में प्रकट करने के लिए ऐसे शिल्प-शैलियाँ सामने आई, जिससे नाटक अपनी पूरी शिल्पगत एक कथ्यगत उपलब्धियों के साथ दर्शकों के समक्ष आने लगा।

नई रंग-दृष्टि के अंतर्गत जो महत्त्वपूर्ण घटना घटी वह थी नाटक में दृश्यत्व को उसका उचित सम्मान प्राप्त होना। नाट्य-शिल्प ऐसा बनने लगा जिससे नाट्य दृश्यत्व को अनुभूति देने में सफलता मिल सके। संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसे सरकारी नाट्य विषयक संस्थाओं की स्थापना तथा अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच से नाटककारों के साक्षात्कार के प्रौढ़ रंगमंचीय दृष्टि के पनपने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नई रंग-दृष्टि को विकसित करने में नेमिचंद्र जैन, जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, जयदेव तनेजा आदि कई रंग विद्वानों का मौलिक चिंतन काफी सहायक रहा। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की निम्नलिखित प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ हैं –

क. प्रतीकात्मकता:-

समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए समकालीन नाटकों में अधिकांश नाटककारों ने किसी न किसी प्रकार के प्रतीक का आश्रय लिया है। प्रतीकों के उपयोग से जहाँ नाटकीय प्रभाव सघन हुआ है वहीं नाटककार कथ्यगत उद्देश्य में भी सफल हुआ है। कहीं संपूर्ण कथा या सभी पात्रों को प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों का रुझान अधिकतर पौराणिक ऐतिहासिक या मिथकीय वस्तु-चरित्रों की प्रतीकात्मक प्रस्तुत में दिखाई देता है। वास्तव में विभिन्न प्रतीकों को उपयोग के द्वारा समकालीन हिंदी नाटककारों ने व्यक्ति तथा समाज से संबंधित विभिन्न स्थितियों तथा समस्याओं का प्रभाव चित्रण किया है।

ख. असंगत नाट्य-शिल्प:-

पश्चिम के ऊलजलूल या असंगत (एब्सर्ड) थिएटर से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने असंगत नाटकों के प्रयोगशील उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। एब्सर्ड नाटक मनुष्य के भीतरी यथार्थ को, कुंठा, निराशा, ऊब और विसंगतियों को व्यक्त करने के कारण आक्रमकता, अस्वाभाविकता, क्रूरता एवं वीभत्सता का बहाव भी पैदा करता है। एब्सर्ड एवं परम्परागत नाटक के मुहावरे में मूलभूत अंतर यह है कि जहाँ परम्परागत नाटक बाह्य-मनोदशा को वस्तुनिष्ठ चित्रण करने का प्रयत्न करता है, वही एब्सर्ड नाटक मनोदशा के रूप को मंच पर पेश करने की कोशिश

करता है। अतएव परम्परागत नाटक कथा कहता है, एब्सर्ड नाटक रूप का अथवा बिम्बों का एक-एक पैटर्न विकसित करता है।

ग. लोक-नाट्य शैली:-

पश्चिमी नाट्य-परम्पराओं से प्रभाव ग्रहण करते हुए समकालीन हिंदी नाटककार अपनी नाट्य-परम्परा के प्रति भी जागरूक दृष्टि रखता है। अपनी जड़ों का अन्वेषण करते हुए पारम्परिक नाट्य-पद्धतियों को अपनाने के प्रति उसका आकर्षण बढ़ा है। लोकनाट्यों के शिल्पगत लचीलेपन, सादगी, उनकी जीवंतता तथा जिंदगी से जुड़ाव ने नाटककार को उसकी तरफ आकर्षित किया है। लोक नाट्य-शिल्प को अपनाते हुए लिखे गए नाटकों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओं', भीष्म साहनी कृत 'कबीरा खड़ा बजार में', हबीब तनवीर का 'मिट्टी की गाड़ी' आदि उल्लेखनीय हैं।

घ. अंग-विभाजन एवं दृश्य योजना:-

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार अपने आप को रंगमंच से अलग रखकर नाटक की रचना नहीं करता है। रंगमंच से जुड़े होने के कारण मंचन की आवश्यकताओं की उसे अच्छी पहचान है, इसलिए वह अपने नाटकों का शिल्प लचीला होने पर जोर देता है जिससे नाटक बिना किसी कठिनाई के मंचित हो सके। नाट्य शिल्प से संबंधित प्रमुख प्रयोगों के अंतर्गत अंग-विभाजन और दृश्य-योजना के संबंध में महत्त्वपूर्ण बदलाव देखने को मिले हैं।

जहाँ पहले नाटकों में अंकों की भरमार होती थी, वहीं अधिकतर नाटक केवल दो अंकों में बंटे हुए दिखाई देते हैं। उदाहरण स्वरुप सर्वेश्वरदयाल दयाल सक्सेना का 'बकरी', रमेश बक्षी का 'तीसरा हाथ' आदि। ऐसे नाटक भी लिखे जा रहे हैं जिनमें किसी प्रकार का विभाजन ही नहीं होता। निर्देशक अपनी सूझ-बूझ के अनुसार चाहे मध्यांतर रखे या न रखे।

ङ. नाट्य भाषा:-

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में सार्थक नाट्य-भाषा का है। नाटक एक ऐसी विधा है जिसका संबंध केवल शब्दों तक ही सीमित न रहकर क्रिया-व्यापार भी उसका महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है। दरअसल नाटक में नाटककार द्वारा लिखे शब्दों के द्वारा ही नहीं बल्कि उन्हें उच्चरित करनेवाले अभिनेता, निर्देशकीय दृष्टि, प्रकाश-व्यवस्था, संगीत-योजना तथा मंच-सज्जा के द्वारा भी नाटक की भाव-वस्तु तथा नाटककार के मंतव्य को दर्शक तक संप्रेषित किया जाता है। हिंदी में सार्थक नाट्य-भाषा की तलाश की दृष्टि से मोहन-राकेश का योगदान महत्त्वपूर्ण है। नाटककार जिस पृष्ठभूमि तथा परिवेश से संबंधित विषय अपने नाटक के लिए चुनता है उसी के अनुरूप नाट्य-भाषा को अपनाता है। दरअसल स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने ऐसी भाषा का प्रयोग करने की कोशिश की है जिस भाषा से आम जनता समझ भी जाए तथा मनोरंजन के साथ-साथ संदेश भी मिले।

वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार नाटक की भाषा को कथ्यगत एवं शिल्पगत आवश्यकताओं के अनुसार नये आयाम और आस्वाद देने का प्रयास कर रहा है। नाट्य-भाषा के केवल 'पाठ्य' स्तर तक सीमित न रखकर उसे 'मंचीय भाषा' का रूप देते हुए हिंदी नाटककार ऐसी भाषा को अपनाने का प्रयास करते हैं जो पात्र की तथा कथ्य की परिवेशगत आवश्यकता को भी पूरी करे। आम दर्शक की समझ में भी आए और काव्यात्मकता, गहनता तथा संवेदनशीलता लिए साहित्यिकता एवं कलात्मकता की कसौटी पर भी खरी उतरे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटक अत्यंत ही लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण दृश्य विधा है। शास्त्रीय एवं सामाजिक आधार पर नाटक का अत्यंत महत्व है तथा यह सामान्य जनता की वस्तु है। सामान्य व्यक्ति के हित और मनोरंजन के लिए ही नाटक का निर्माण हुआ है। नाटक मनोरंजन के साथ-साथ लोगो को सन्देश देता है। नाटककार नाटक के माध्यम से समाज में फैली अराजकता, कुरीतियाँ को समाज से हटाने की कोशिश करता है। नाटक का उद्भव प्राचीन काल से शुरू हुआ और यह परम्परा धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ती गयी। देश, काल, परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ ही नाटक के विकास में परिवर्तन दिखायी देने लगा। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक जीवन से जुड़ा हुआ नाटक है। विषय चाहे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक या राजनैतिक हो, जीवन का

कोई ऐसा पक्ष नहीं जिसे हिंदी नाटककार ने छुआ न हो। व्यक्तिगत चेतना के साथ-साथ समष्टिगत चेतना को महत्त्व देते हुए जीवन से जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं को इन नाटककारों ने अपने नाटकों का विषय बनाया है। उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि परिवेशगत प्रतिबद्धता के साथ-साथ मंचीय प्रतिबद्धता को उन्होंने समान महत्त्व दिया है। कथ्य तथा शिल्प दोनों क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करते हुए, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार हिंदी रंगकर्म के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। रंगभाषा से संबंधित गंभीर चिंतन एवं प्रयोग स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य समीक्षा भी नई रंग-दृष्टि के तहत, नए मुहावरे की तलाश में आगे बढ़ रही है।

संदर्भ :

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत, डॉ. गणपतिचंद्र, पृ.सं. 291

2. आधुनिक हिंदी शब्द-कोश, सं. गोविन्द चातक, पृ सं.-306

3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत, डॉ. गणपतिचंद्र, पृ.सं 292

4. साहित्य शास्त्र, डॉ. माधवे सोनतकके, पृ.सं. 54

5. वही, पृ.सं. 56

6. साहित्य रूप: शास्त्रीय विश्लेषण, डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवालड, पृ.सं -132

7. भारतेंदुकालीन नाट्य-साहित्य, डॉ. गोपीनाथ तिवारी, पृ. सं.- 68

8. लेखक का परिवेश, डॉ. सिद्धनाथ कुमार, पृ. सं.- 62

9. आधुनिक समाज में भारतीय परिवर्तन, एम्. एन. श्रीनिवास, पृ. सं.- 81

10. मध्यकालीन हिंदी नाटककार, गिरीश रस्तोगी, पृ. स.- 37

11. आज के हिंदी नाटक, जयदेव तनेजा, पृ. सं.- 154

द्वितीय अध्याय

मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.क. व्यक्तित्व:-

मोहन राकेश का पूरा नाम मदन मोहन गुगलानी था। उनका जन्म 8 जनवरी 1925 को पंजाब प्रांत के अमृतसर नगर में हुआ था। मोहन राकेश के पिता करमचंद गुगलानी पेशे से वकील थे। वे अमृतसर के प्रतिष्ठित नागरिक, जागरूक कार्यकर्ता, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के पदाधिकारी एवं साहित्य-संगीत में रूचि रखनेवाले थे। बचपन कच्चे बांस कोंपल के समान होता है जिधर भी मोड़ों मुड़ जाएगा। बचपन में पड़े प्रभाव व संस्कार पूरी जिंदगी अपना अमिट प्रभाव बनाए रखते हैं। इनके पिता साहित्य प्रेमी तो थे ही, इसीलिए बैठकों में मित्रों के बीच आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के साहित्यकारों की आलोचना को मोहन राकेश जी बड़े ध्यान से सुनते थे। इन साहित्यिक गोष्ठियों का गहरा प्रभाव मोहन राकेश पर पड़ा। बचपन से ही अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति सतर्कता और प्रतिक्रिया का भाव मोहन राकेश के मन में पैदा हुआ। मोहन राकेश को जन्म के समय परिवार में जो परिवेश प्राप्त हुआ वह प्रभावपूर्ण और संतोषप्रद नहीं था। सीलन से भरा घर, माँ-दादी का अंकुश उनके बाल मानस पर अपने प्रभाव छोड़ता रहा। शायद यही कारण रहा है कि राकेश जी के मन में हमेशा दुनिया को निकट से देखने एवं जीवन अपने ढंग से जीने की कामना रही।

मोहन राकेश का बचपन जहाँ एक ओर साहित्यिक वातावरण से पूर्ण था, वहीं दूसरी ओर अपनी दादी माँ के अपार स्नेह के कारण अंध-विश्वासों से ओत-प्रोत भी था। दादी का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व उनको हर नजर से बचाए रखना चाहता था। भूत-प्रेत, जादू-टोने, डायन आदि का इस तरह डर दिखाया जाता था कि बचपन घर की चार दीवारों में ही बीता। आँख बचाकर कभी निकल भी गये तो पकड़कर फिर बंद कर दिये जाते थे। नाचने का मन होता, गली में धमा-चौकड़ी मचाने को जी ललचाता, किंतु दादी की आँखों में डरकर सीलन व बदबू तथा घी, अनाज, तरकारियों, धूप-चंदन की खुश्बू से मिश्रित घर में बंद रहना पड़ता था। इस प्रकार बचपन में उनकी अलग ही दुनिया थी। उन्होंने स्वयं लिखा है- “कभी चीटियों की पंक्तियों के साथ दीवार के सुराखों की यात्रा करता हूँ। कभी धूप में उड़ते जर्रो को आपस में लड़ाया करता हूँ। दीवारों के टूटते पलस्तर से लेकर हौज के पानी तक मैं तरह-तरह के चेहरें खोजता हूँ।”[1]

मोहन राकेश का बचपन कर्ज से लदा हुआ था। वकील होते हुए भी उनके पिता कर्ज से लदे थे। उन्होंने बचपन में ही कर्ज वसूल करने वालों को घर आते-जाते देखा था। इन्हें पं. लोकनाथ एवं सरदार निहालसिंह से बड़ी चिढ़ थी, जो कर्ज वसूल करने आये थे। मोहन राकेश जब सोलह साल के थे, 8 फरवरी 1941 को उनके पिता की मृत्यु हो गई। मृत्यु के दो-एक घंटे बाद उनके शव के पास दो तरह के शब्द सुनायी दे रहे थे, एक तो घर के लोगों के रोने-चिल्लाने और दूसरा किसी व्यक्ति द्वारा गला फाड़-फाड़ के धमकियाँ देने का। धमकियाँ देने वाला उस मकान मालिक का बड़ा लड़का था, जिस मकान में वे लोग लगभग पंद्रह साल से रहते थे। इधर बीमारी में छह-सात महीने का किराया उसमें और जुड़ गया था। वह किसी को मुरदे को हाथ नहीं लगाने दे रहा था। अँधेरे में बहुत देर खामोशी छायी रही। किसी को किसी से कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। रोने को भी नहीं। जितने लोग जमा थे, वे एक-एक करके खिसक गए। इस एक रात में मोहन राकेश ने महसूस किया कि उनकी दो दुनियाँ है, एक इस रात से पहले की और दूसरी इस रात के बाद की। हालांकि, वे दोनों उसकी अपनी और निजी हैं फिर भी उनके बीच की वह रात ऐसी है जो कभी बीती नहीं, सदैव सामने खड़ी रही। उसी सारी रात राकेश अँधेरे जीने में दीवार से सर ठिकाये बैठे रहे।

पिता के मृत्यु के बाद मोहन राकेश की आँखें आसपास की जिंदगी के प्रति बहुत सतर्क हो गई थी, उनकी आँखे अपने से और घर से बाहर सामाजिक बंधनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगी थी। इसी बीच उसने अनेक लोगों के चेहरे की परतों को टूटते हुए देखा। वे चेहरे-चेहरे न होकर उन पर चढ़ी झिल्लियाँ थी, जो एक-एक करके उतरती जाती थी। उन्हें स्नेह, सहानुभूति, साहस और उत्साह की झिल्लियों के नीचे मजबूर, डरपोक और हतोत्साहित चेहरे नजर आये। उन्हें लगता रहा कि क्यों नहीं लोग अपनी ऊपर की झिल्लियाँ उतारकर बाते करते? क्यों जान-बूझकर अपना ही निषेध करते हैं? ऐसी कौन-सी विवशता है जो इन्हें झूठ बोलने, दिखावा करने और वास्तविकता को छिपाने के लिए मजबूर करती है।

परिस्थितियों की प्रतिकूलता और विसंगतियों ने राकेश के व्यक्तित्व में अस्थिरता, अतिवादिता और आक्रोश का अंकुरण किया, फलतः उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही वह बहुत विद्रोही हो गये। उनकी विद्रोही मनःस्थिति की साक्षी थी एक लड़की, जिसका नाम उन्होंने कभी प्रकट नहीं किया। वह अक्सर उन्हें कह देती थी कि 'इतनी ऊँची आवाज में बात करते हो ? धन के अभाव के कारण मकान की मरम्मत नहीं हो पाती थी। दादी माँ

का पूजापाठ देखकर बाल राकेश के मानस पटल पर नाना प्रकार के विचार उठते थे। इस तरह धीरे-धीरे ये ब्राह्मचार, अनुशासन, नियम आदि के कारण रूढ़ियों के कट्टर आलोचक बने और यही से गंभीर चिंतन और मनन का प्रवेश हुआ। हर स्थिति पर गहराई से सोचने की, सोचते रहने की प्रवृत्ति बनती गई। उनकी बाल्यावस्था में ही पिता का असमय निधन हुआ। घर का कार्यभार 16 वर्ष के अल्पायु में राकेश जी के नाजुक कंधों पर आ पड़ा। इस जिम्मेदारी को निभाने में इन्हें कटु सत्यों का सामना करना पड़ा। अपने पिता की मृत्यु का कारुणिक दृश्य हमेशा उनके मानस-पटल पर छाया रहा। पिता की मृत्यु पर माँ की सोने की चूड़ियाँ बेचकर किराया चुकाने के बाद ही मुर्दा उठने देना एक ऐसी प्रक्रिया थी जो उनके जीवन का एक कटु अनुभव बन गई। अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनसे उन्हें यही लगता रहा कि कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती है जो कभी नहीं बीतती। पिता की मृत्यु के बाद अनेक शोक सभाएँ हुई, भाषण हुए लेकिन सब निरर्थक थे। फिर कोई झाँकने भी नहीं आया। इसलिए राकेश जी मुख्य रूप से जिंदगी की असलियत जीना चाहते थे। जैसे है वैसे बनकर जिये और विश्वास के साथ जियें, तो इनके हितों को क्या क्षति पहुँचेगी ? अल्पायु में ही लोगों के नकली मुखौटा के प्रति राकेश जी सचेत हो गए। अपने से बाहर घर को, घर से बाहर सामाजिक बंधनों के प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगे। राकेश यही सोचते रहे कि लोग दिखावेपन की झिल्लियाँ उतारकर क्यों नहीं रखते ? पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने हिंदी में लिखना प्रारंभ किया।

इन परिस्थितियों के मध्य इनका बचपन व्यतीत होता रहा तथा अध्ययन चलता रहा साथ ही लेखन कार्य भी। इनको शिक्षा अमृतसर के लाहौर के ओरिएण्टल कॉलेज में मिली। वहाँ से उन्होंने शास्त्री की उपाधि ली तथा संस्कृत में एम.ए किया। देश विभाजन के बाद उनका परिवार जालंधर में आ बसा। 22 वर्ष की आयु में ही वे बुजुर्ग बन बैठे। साहित्यिक अभिरुचि पनपती रही। मन के क्लेश, घुटन को निकालने का रास्ता कागजों में मिलने लगा। लिखना, पढ़ना यही क्रम चलता रहा और यहीं से हिंदी में एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्त्तीर्ण की। विद्यार्थी जीवन में इनके काव्य-सृजन का कार्य भी चलता रहा। अध्ययन में अधिक रूचि थी अतएव 'नाटक' में सही शब्द की खोज विषय पर नेहरू फेलोशिप के अंतर्गत कार्य कर रहे थे, पर दुर्भाग्यवश वह पूरा नहीं कर पाए और उनकी जीवन यात्रा संपन्न हो गई।

पारिवारिक जीवन :-

मोहन राकेश ने संघर्षपूर्ण जिंदगी पाई थी। संघर्षपूर्ण जिंदगी की साड़ी उलझनें, कड़वाहट और अनुभूतियाँ उनकी रचनाओं में मुखौटा लगाये हुए दिखाई पड़ती है। इस संघर्षमय जीवन में पारिवारिक सुख की लालसा से उन्होंने सन् 1950 में विवाह किया। लेकिन विवाह करने के बाद भी वे कुछ उदास ही रहते थे। मोहन राकेश ने महसूस किया कि “विवाह के साथ ही सहसा मैंने अपने को पाने के लिए या मनाने के लिए कि मैं वहाँ हूँ तैयार नहीं था।”[2] मोहन राकेश आडंबरहीन थे। भावुक ह्रदय होने के कारण उन पर किसी भी बात का असर बहुत अधिक एवं जल्दी पड़ता था। वे अंहवादी थे। अपने अंह की उपेक्षा वे सहन नहीं कर पाते थे। वास्तविकता ही उनकी आस्था थी। यही कारण है कि वे अपने वैवाहिक जीवन में सफल रहे। राकेश जी स्वयं लिखते हैं कि “विवाह नाम है समझौता का, एडजेस्टमैंट का, पर अगर दोनों ओर से हो तब न....अगर दोनों ही अपनी कामनापूर्ति के लिए एक-दूसरे के लिए नहीं हैं, तो हालांकि कभी-कभी इस नये वातावरण के नये असर की अनुभूति तन-मन भर देती है और जीने और काम करने की कामना को उससे उकलाहट भी मिलती, लेकिन यह अनुभूति भी उसके साथ स्थायी नहीं रह पाती। तनाव और उलझनों के क्षण बार-बार आते रहते। मैं का प्रश्न अपने व्यक्तित्व का प्रश्न स्वतंत्र होकर लेखन की छटपटाहट निरंतर बढ़ती जाती है । तुम जो हो, वह भी बनी रहना चाहो और अतिरिक्त लेना चाहो वह क्यों होगा... किसी दूसरे को उपादान रूप में कभी मत ग्रहण करों, पुरुष हो, भावना हो या पत्थर। अपने से बाहर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करो, फिर उसे छुओ....देना भी एक उपलब्धि है, उसमें भी सार्थकता है।”[3] मोहन राकेश पहले लेखक थे फिर पति। वे विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए स्वछंद भी रहना चाहत थे। अपने लेखन कार्य में पूर्ण स्वतंत्रता उनका ध्येय था। वह अपने बाह्य अस्तित्व को किसी भी प्रकार से कम नहीं होने देना चाहते थे। इस कार्य में उनके साहित्यिक मित्रों ने उनको बहुत सहयोग दिया। उनके वैवाहिक जीवन को बनाए रखने में और समझौता करवाने में इस सबका बहुत प्रयास रहा। उनकी प्रथम पत्नी भी अंहवादी थी, शायद यह भावना मोहन राकेश के समक्ष पढ़ी-लिखी होने के कारण थी। वह नौकरी करती थी एवं वेतन भी मोहन राकेश की तुलना में अधिक पाती थी। स्वतंत्र विचारों की महिला किसी भी प्रकार की परिस्थिति का मुकाबला करने को सदैव तत्पर थी। अतएव दोनों ही अंहवादी एवं अपनी बातों पर अड़े रहने वाले थे। यही कारण था कि इनके वैवाहिक जीवन में दरार पड़ती गई। मोहन राकेश इस स्थिति में घर में घुटन महसूस करने लगे। घर की आर्थिक स्थिति कुछ

डांवाडोल होने के कारण वे काफी दुविधा का अनुभव कर रहे थे। सन् 1957 के अगस्त महीने में संबंध-विच्छेद के कागज पर हस्ताक्षर करके अपने असफल विवाह-संबंध से भी मुक्त हो चुके थे। उनको अपनी पत्नी की कमी का एहसास भी हुआ था। राकेश जी वैसे बहुत संतुष्ट थे। किसी बात को लेकर परेशान हैं, यह वे आराम से स्वीकार नहीं करते थे, परंतु दिन मेरे साथ वे कुछ आधिक कोमल हो उठे।....उस दिन जब मैंने उन्हें कुरदे दिया तो सूबक पड़े।"[4]

मोहन राकेश एक सुखी परिवार की खोज में हमेशा रहे किंतु उन्हें अपने जीवन में वही नहीं मिला। उनके जीवन में अनेक प्रेमिकाएँ आई जिन्हें उन्होंने 'क', 'र', 'स' आदि नामों से पुकारा है। उन प्रेमिकाओं में उन्हें या तो वासना की गंध मिली या फिर बचपना। परिपक्वता जो वह चाहते थे किसी में न मिली। उन्होंने दो शादियाँ की थी। दोनों में अहं की भावना कूट-कूट कर भरी थी। गृहस्थी की गाड़ी के दोनों पहियों में से एक के खराब होने पर दूसरा उसे जैसे-तैसे खींच सकता है, किंतु दोनों पहिये अगर टस से मस न हो तो उस गाड़ी को कौन हिला सकता है? यही हाल मोहन राकेश का रहा और उसका अंत तलाक में परिवर्तित हो गया। उनके जीवन में प्रेमिकाओं का चक्र चलता रहा। उनका व्यक्तित्व लड़कियों को उनकी ओर आकर्षित करता था, किंतु अपरिपक्व मानसिकता से इनका संबंध हुआ। राकेशजी में पुरुषत्व का अहम् था। वह अपने पर आश्रित पत्नी चाहते थे और उसमें इन्हें धोखा होता रहा। बार-बार विवाह-तलाक होने के कारण राकेश जी अंदर से टूट गए। पारिवारिक शांति की तड़प इनमें रहने लगी। धीरे-धीरे विवाह के नाम से उन्हें घृणा होने लगी। कुछ लोगों ने राकेश जी पर आरोप भी लगाया कि वे कपड़ों की तरह पत्नियाँ बदलते हैं। यही सच है कि बार-बार विवाह एवं तलाक से पारिवारिक असंतोष ही उत्पन्न होता है। किंतु कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसा वातावरण उपस्थित कर देती है कि मनुष्य उनके सामने विवश हो जाता है।

इन परेशानियों के मध्य मोहन राकेश ने अपना लेखन कार्य चालू रखा। पुनः 9 मई 1960 ई. को वे दाम्पत्य सूत्र में बंध गए। उस लड़की के मानसिक रूप से विक्षिप्त होने के कारण कई बार उन्हें अपमानित होना पड़ा। इस अपमानित के कारण वे 'सारिका' के कार्यालय को छोड़ दिये। अंत तलाक के रूप में हुआ। अंतिम में राकेश के जीवन में अनीता रोशनी बनकर आई। जीवन की सारी खुशियों से इनकी झोली भरने को वे तत्पर रहते थे। अपने अनीता से संबंध के बारे में उन्होंने लिखा है "अनीता तुम तीसरे नंबर पर, पहले में मेरा लेखन, दूसरे में मेरे दोस्त, तीसरे पर तुम।"[5] अनीता के साथ उन्होंने अपना नया गृहस्थ जीवन प्रारंभ किया। उन्हें अपने दोनों बच्चों

पूर्वा और शैली से बहुत से बहुत स्नेह रहा। उनको पत्नी प्रेम भी कम नहीं था। उसी प्रेम से उन्होंने एक जीवन-तथ्य को स्पष्ट किया कि स्त्री-पुरुष के संबंध का आधार सेक्स नहीं है, उससे हटकर भी कुछ है, जो उम्र और शरीर के ढलान के साथ जुड़ी नहीं है।

व्यावसायिक जीवन:-

मूलतः मोहन राकेश का व्यवसाय लेखन कार्य ही था। विद्यार्थी जीवन से काव्य सृजन की ओर अग्रसर थे। यों तो नाट्य रचना, उपन्यास, कहानी, निबंध सभी विधाओं में पारंगत थे किंतु इन सब में नाटककार का स्वरुप अग्रणी रहा। लेखन के साथ साथ अर्थोपार्जन हेतु कई स्थानों पर नौकरी भी की। किंतु नौकरी से पलायन-वृत्ति बराबर सिर दोहरी उठाये रही। सन् 1945 के आसपास उन्होंने फ़िल्म कम्पनी में काम किया था, परंतु दोहरी जिंदगी न जी पाने के कारण वहाँ से भी इस्तीफा देकर चले आये। शुरुआत में वे बम्बई के शिक्षा-विभाग में लेक्चरशिप की कार्य करते थे। फिर उसके बाद दिल्ली में। इस तरह वे 1952 ई. में नौकरी से अलविदा कह दिये। मोहन राकेश ने निश्चय किया कि लेखन पर निर्भर रहकर न्यूनतम साधनों में गुजारा करने की कोशिश करेंगे।

किंतु उनका यह संकल्प ज्यादा देर तक न टिका। इसी बीच जालन्धर के डी.ए.वी. कॉलेज में विभागाध्यक्ष के पद में नियुक्त हुए। सन् 1962-63 में 'सारिका' के संपादक रहे। मोहन राकेश 'सारिका' के संपादन कार्य से त्यागपत्र दे देने के बाद से मृत्यु-पर्यन्त स्वतंत्र रहे। उन्हें लगता था नौकरी करना जैसे कोई गुलामी कार्य है। इनकी अपनी आत्मा इन्हें लेखन की ओर अभिप्रेरित करता रहता था। उन्हें पूरा विश्वास था कि एक दिन उनका लेखन बहुत उच्च शिखर तक पहुँचेगा और वही हुआ।

मोहन राकेश एक प्रतिभा संपन्न कुशल लेखक थे। जिंदगी में बहुत तकलीफ झेलने के बाद उन्हें दुनियादारी से चिढ़ होने लगी थी। बचपन में पिता के गुजर जाने के बाद उनकी अर्थी उठाने के लिए अपनी माँ के सोने का कंगन को बेचना पड़ा। और यही कारण है कि उन्होंने दुनिया को कभी माफ नहीं किया। उनका कुंठाग्रस्त, पीड़ित होना स्वाभाविक है। ऐसे अकेले राकेश ही नहीं, न जाने कितने राकेश होंगे जो इस कुंठा को झेलते होंगे। ऐसे परिवेश से निकलते हुए व्यक्ति की रचनाओं में भोगे हुए यथार्थ का चित्रण स्वाभाविक बन पड़ता है। राकेश स्वयं ईमानदार थे। जिंदगी में इतने संघर्षमय वातावरण से गुजरते हुए भी उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी

गहन अनुभूति, चिंतन-शक्ति और शिल्प-कौशल का परिचय दिया है। सन् 1959 में 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक पर संगीत अकादमी का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसी प्रकार सन् 1979 में नाटक लेखन पुरस्कार भी इसी अकादमी से प्राप्त हुआ। 3 दिसंबर 1972 ई. को 48 वर्ष की आयु में राकेश जी इस दुनिया से चल बसे।

आंतरिक व्यक्तित्व:-

पारिवारिक विडम्बनाओं, पिता के मृत्यु, सोलह वर्ष की आयु में परिवार का सारा बोझ, विवाह, तलाक, पुनः विवाह, जीवन की अस्थिरता आदि ने राकेश की रचनाओं को एक नई दिशा प्रदान की। मोहन राकेश के बारे में लोगों में अलग-अलग धारणाएँ थी। कोई उन्हें निहायत गैर जिम्मेदार बताता है, कोई कहता है लिखता तो अच्छा है लेकिन आदमी अच्छा नहीं है, वह केवल सुकून की खोज में भागता फिरता है। राकेश नाटककार से पहले कहानीकार थे, परंतु सन् 1957 में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक ने नाट्य जगत में धूम मचा दी। इस नाटक में लेखक स्वयं का जीवन झाँकता है। 'लहरों के राजहंस' व 'आधे-अधूरे' में पारिवारिक असंतोष और घुटन का प्रभाव है। राकेश का जीवन अस्थिर रहा। यह अस्थिरता कहीं न कहीं उनके नाटकों के पात्रों में दिखाई पड़ती है।

जो लोग मोहन राकेश के परिचय-परिधि में थे, वह उन्हें अच्छी तरह जानते थे कि उनके पास आत्मीयता का अक्षय-कोष था। उसे वह सदावत की तरह बाँटा करते थे। इस कारण हर किसी को उनका अंतरंग होने का दावा करने का मन करता। मित्रता उनके लिए सर्वोपरि थी। कमलेश्वर, दुष्यंत, राजेन्द्र यादव, जगदीशचंद्र माथुर, महेंद्र भल्ला, जैनेंद्र, सुरेंद्र चतुर्वेदी आदि इनके अभिन्न मित्रों में से एक थे। दोनों ओर से समान भाव सच्ची मित्रता को जन्म देती है। मोहन राकेश के दोस्तों ने हर परिस्थिति में उनका साथ दिया है कभी उन्हें अकेला महसूस होने नहीं दिया। राकेश ने अपने मित्रों के बीच रहकर जीना सिखा।

राकेश का व्यक्तित्व कल्पनात्मक व्यक्तित्व था। छोटी से छोटी बात भी उन्हें सोचने को मजबूर कर देती थी। फिर चाहे वह थर्ड क्लास का वेटिंग रूम हो या बम्बई का इक्वेरियम। हर व्यक्ति सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है फर्क सिर्फ चिंतन का है। कुछ सुंदरता देखकर खुश होते हैं, तो कुछ उसको बनानेवाले के विषय में कल्पनात्मक विचरण करने लगते हैं। इसी तरह मोहन राकेश छोटी-छोटी रंग-बिरंगी मछलियों को देखकर, फूलों व

तितलियों के रंग एवं आकार के वैविध्य को देखकर इनकी सृष्टि करनेवाले की सूक्ष्म दृष्टि में सोचते हैं। मोहन राकेश ने अल्पायु में ही लेखन कार्य की शुरुआत की थी। चारों ओर के परिवेश से उनको यह प्रेरणा मिली थी। लेखन कार्य करने के लिए शांत वातावरण हेतु राकेश जगह-जगह घूमते रहे। सभी जगह प्रकृति सौन्दर्य ने इन्हें अपनी ओर रिझाया है। रात को सोते समय भी समुद्र का गर्जन, बादल, बिजली, वर्षा...आदि राकेश में प्रकृति के प्रति एक ललक पैदा करती रही। उन्होंने हमेशा अपनी पहचान लेखनी में ढूंढने की कोशिश की है।

मित्रों, पत्नियों एवं प्रेमिकाओं के सहचर्य व्यवहार ने उनकी दृष्टि, उनके विश्वास और जीवन के दृष्टिकोण को ही बदल डाला। वह सरल ह्रदय के व्यक्ति थे तभी किसी भी व्यक्ति पर विश्वास कर लेते थे। और इसी विश्वास ने उन्हें जगह-जगह पर छला है। उनका कथन सही है कि “सबसे गहरे घात उनके हाथों से लगे हैं, जिन्हें मैंने वर्षों अपने घनिष्टतम मित्र माना है।”[6] जिन लोगों पर उन्होंने सबसे ज्यादा विश्वास किया उन्होंने ही उनके साथ विश्वासघात किया। इसीसे राकेश ने अनुभव किया है कि शरीर के दर्द से आदमी कराहता है किंतु विश्वासघात के दर्द से आदमी दबता है, टूटता है। इसी कारण उनके जीवन में दर्द अधिक है।

मोहन राकेश के जीवन और विचार में दार्शनिकता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। व्यक्ति के मन की उड़ान भरने को तड़पने लगता है और आकाश में उड़ते समय नीड़ की उष्णता उसके पीछे लगी रहती है। उसी प्रकार मोहन राकेश को कोई बंधन बंधता भी नहीं है और व्यक्ति, मुक्ति नहीं देती। वह स्वयं को समाज, समूह, युग विस्तार के रूप में देखते हैं क्योंकि जिससे भी मिलते हैं सब के अंदर व बाहर के मुखौटे अलग-अलग हैं। अतः सामनेवाले का व्यक्तित्व इन्हें एक मुखौटा और दे जाता है। जीवन में मनुष्य अनुभव से कितना कुछ सीख जाता है।

मोहन राकेश ने अपने जीवन में बहुत कुछ झेला है- असुरक्षा, आंतरिक विक्षोभ, निर्वासन जीवन की शुन्यता के एहसास को उन्होंने अन्दर से भोगा था। अनेक अनुभव उन्हें बाल्यावस्था में ही हुए थे। अपने वैवाहिक जीवन में स्त्री-पुरुष की संबंधहीनता को झेला। उनमें आत्मीयता की भूख थी। उन्हें एक ऐसे सुरक्षात्मक घर की तलाश थी जहाँ उन्हें सांत्वना और सुख मिले, जो उन्हें कभी न मिल सका। माँ उनके लिए आधार स्वयं थी पर उनके अवसान के बाद वे एकदम स्तंभित रह गए, उनका भावनात्मक जगत बिखर कर टूट गया। स्थितियों और चिंतन की मिली जुली संचित अभिव्यक्ति के कारण ही कालिदास, नन्द एवं महेन्द्रनाथ जैसे पात्रों ने उनके नाटकों में

जन्म लिया। राकेश के व्यक्तित्व का निर्माण किसी एक वजह से नहीं बल्कि बहुत सारी कारणों के वजह से हुआ है। आतंरिक कारणों में उनके व्यक्तित्व में उतना विकास परिलक्षित नहीं होता, जितना बाह्य परिस्थतियों के सहयोग से होता है। मोहन राकेश को बहिरंग क्षेत्र में आने के बाद ही व्यक्ति की असलियत उसका वास्तविक चेहरा चिंतन तथा विश्व के सामंजस्य या संघर्ष करने की शक्ति का एहसास होता है। केवल आंतरिकता व्यक्ति को अन्तर्मुखी बना देती है और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अत्यंत ही बौना हो जाता है। वे इस बौनेपन की स्थिति से बहुत आगे निकल चुके हैं। मोहन राकेश ने जो अपने व्यक्तिगत डायरी लिखी थी उससे अवश्य ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने बाह्या जीवन में रचे-पचे थे।

सामाजिक प्रभाव:-

मोहन राकेश की जिंदगी एक खुली किताब रही है। उनको जीवन में बहुत सारी तकलीफों का सामना करना पड़ा। उन्होंने उन तकलीफों को सहते हुए अपनी एक पहचान बनाई। उनका व्यक्तित्व अंतर्विरोधों से परिपूर्ण था। अलग-अलग व्यक्तियों के समक्ष उनकी प्रतिमा अलग-अलग थी। मोहन राकेश को कोई ईमानदार समझते थे तो कोई बेहद घटिया किस्म के। मोहन राकेश अंहवादी, कभी न झुकनेवाले अत्यंत ही भावुक इंसान थे। उनके नजदीकी लोग भी उन्हें पूर्णतः न जान सके। मोहन राकेश कहा करते थे कि दुनिया के सारे सवालों के जवाब तो हम दे देते और ले लेते हैं, पर अपने मन के सवालों का जवाब इस दुनिया से क्यों नहीं मिलते ? इस प्रकार की निराशा में ही उन्होंने अपनी संपूर्ण जिंदगी व्यतीत की।

मोहन राकेश का व्यक्तित्व घुमक्कड़ किस्म का था। अपनी इस प्रकृति के कारण वे कहीं भी स्थिर नहीं रहे, दिल्ली, जालंधर, अमृतसर, शिमला और बम्बई कहीं भी नहीं तथा वे न व्यक्तियों से न जगहों से और न ही नौकरियों से बंधे रह सके। वे कहीं नहीं टिक सकते, किसी के हो नहीं सकते। उनका व्यक्तित्व विसंगतियों और अंतर्विरोधों में ग्रस्त था। राकेश ने जब-जब अध्यापक का, मीठा बोलनेवाले व्यक्ति का अभिनय किया तो सब लोग उसका वह वास्तविक रूप समझने लगे। किंतु जोर से ठहाके लगाने, खरी-खरी कह देना, ईमानदारी से बात कहने का वह रूप गलत प्रतीत हुआ। उसके स्वाभाविक रूप को किसी ने स्वाभाविक नहीं माना। इससे मोहन राकेश यह निष्कर्ष निकाले कि व्यक्ति अकेला है, परंतु यह अकेलापन का बोध भी है, उसी से अकेलेपन की आवश्यकता भी है।

जो अकेलापन आदमी स्वयं के लिए चुनता है, चाहता है वह तो अपने अकेले के लिए नहीं होता, बहुतों में रहने के कारण बहुतों के बीच में पैदा हुआ होता है।

मोहन राकेश के व्यक्तित्व में दार्शनिक एवं चिंतन रूप दृष्टिगोचर होता है। जीवन के संबंध में उन्होंने बहुत चिंतन किया है। शाश्वत् जीवन से तात्पर्य रहा कि यदि कोई व्यक्ति शाश्वत् जीवन की कामना करता है तो वह मृत्युपूजक है। जीवन की शक्ति और आकर्षण नए की उत्पत्ति में हैं और उस उत्पत्ति के लिए चाहिए पुरातन का विनाश। विनाश का महान उद्देश्य नए विकास के लिए स्थान रिक्त कर देता है। इसके साथ ही स्वयं नवीन विकास की खाद बन जाता है क्योंकि एक स्वस्थ पौधा पल्लवित हो सके। जिंदगी के प्रति मोहन राकेश की जिज्ञासा है कि जिंदगी में यदि कोई मुश्किल पैदा हो, परेशानी हो, अपने आप से हम हारे हो तो भी हमें इसी सिद्धांत को मानकर चलना चाहिए कि जिंदगी की सार्थकता इसी में हैं कि पराजय (हार) भी आगे जाने की उतनी ही प्रेरणा देती है, जितनी जीत या विजय दे सकती है। ऐसी पराजय भी जीत है। मनुष्य हारकर ही कुछ सीखता है। पराजित होकर हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना जिंदगी का उद्देश्य नहीं है। मोहन राकेश भाग्य के संदर्भ में कहते हैं कि पूरी मानवता का भाग्य सामान्य है। समय के गति के अनुसार जीवन में होनेवाले परिवर्तन ही मनुष्य का भाग्य है। इसे केवल एक साधारण घटना से मिला हुआ अनुकूल, प्रतिकूल संदर्भ कह सकते हैं। मनुष्यों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, न पद की दृष्टि से न अर्थ की दृष्टि से। इस प्रकार मोहन राकेश को भाग्यवादी नहीं कहा जा सकता है। वह मेहनत पर भरोसा करते हैं। मेहनत के द्वारा ही मनुष्य अपना भाग्य बदल सकता है। मनुष्य सभी से चालाकी कर सकता है लेकिन स्वयं से कभी नहीं। इसलिए मनुष्य को स्वयं के प्रति ईमानदार होना अति आवश्यक है। जीवन को एक चुनौती मानकर उसका मुकाबला करने हेतु जुट जाना चाहिए। मोहन राकेश का स्वयं का जीवन चुनौती-पूर्ण था। उनकी चिंतन में अनुभूति भी समाहित है। संत्रास, पीड़ा, टूटना, अलगाव के बीच उन्होंने मानव जीवन की तलाश की है। उनकी गणना उन साहित्यकारों में की जाती है, जिन्होंने जिंदगी को बहुत गहराई से महसूस किया है। मोहन राकेश संवेदनशील एवं भावुक किस्म के व्यक्ति थे।

2.ख. कृतित्व

मोहन राकेश हिंदी साहित्य में नाटककार के रूप में उभरे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मोहन राकेश ने हर विधा को आत्मसात किया है। एक सृजन कलाकार के रूप में मोहन राकेश की प्रतिभा का प्रथम स्फुटन कहानी के रूप में ही संभव हो सका। कहानीकार के रूप में मोहन राकेश एक ओर प्रेमचंद और पुराने कहानीकारों के छोर का स्पर्श करते हैं। उनकी 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियाँ परम्परागत कहानी के अनुरूप है। तो दूसरी ओर उन्हें नई कहानी के प्रस्तोता का भी महत्त्व प्राप्त है। कहानी के बाद उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, अनुवाद, डायरी, यात्रा-वृत्तांत, जीवनी आदि जैसे साहित्यक विधाओं की रचना की है। मोहन राकेश का लेखन, विशेषतः कहानी-लेखन की प्रतिभा का प्रस्फुटन उनके विद्यार्थी काल से ही हो चुका था, परन्तु वे रचनायें बहुत दिनों के बाद प्रकाश में आयी। इस बीच उन्होंने प्राध्यापक की नौकरी छोड़ दी थी। मोहन राकेश की विधाओं को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है-

क. कहानी साहित्य

ख. उपन्यास साहित्य

ग. निबंध साहित्य

घ. नाटक साहित्य

ङ. डायरी साहित्य

च. यात्रा-विवरण और संस्मरण साहित्य

छ. अनुवाद साहित्य

ज. जीवनी साहित्य

झ. पत्र लेखन

ट. रिपोर्ताज

ठ.शोध-प्रबंध (अपूर्ण)

क. कहानी साहित्य :-

कथा साहित्य के मुक्तक विधा ‘कहानी’ सृष्टि के उद्गमकाल से अपना संबंध रखती है। यदि यह कहे कि यह मनुष्य की मनोवृत्ति है, तो भी कोई विसंगति दिखाई नहीं देती। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य इस मनोवृत्ति से आसक्त होकर इसे लिपिबद्ध करता रहा और यह आज मनुष्य के जीवन का एक प्रमुख अंग बन गई है।

मोहन राकेश का कृतित्व बहुआयामी है। बहुमुखी प्रतिभासंपन्न साहित्यकार मोहन राकेश ने हिंदी जगत के सम्मुख एक कहानीकार के रूप में दस्तक दी थी। वे नई कहानी के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी कहानियों की उपलब्धि अप्रतिम है। उनकी कहानियों में प्रायः अकेले पड़े उस मनुष्य का चित्रण है, जो आज के समाज में परिवर्तित मूल्यों और संबंधों की यंत्रणा को अपने अकेले क्षणों में झेलते जाने के लिए अभिशप्त है। मोहन राकेश की कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि समकालीन विसंगतियों और मानवीय रिश्ते की त्रासदी का सजग और आत्मीय शिल्प में अभिव्यंजन है। उनके कथा लेखन में मौलिकता तथा समाज के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट: परिलक्षित होती है। मोहन राकेश द्वारा लिखी कहानियों की संख्या स्पष्ट नहीं हो पायी है। अलग-अलग विद्वानों ने इसकी अलग-अलग संख्या बताई है। जिनमें निम्नलिखित प्रमुख है –

1. नन्हीं (1944 ई.) पहली कहानी
2. इंसान के खंडर (1950 ई.)
3. नये बादल (1957 ई.)
4. जानवर और जानवर (1958 ई.)
5. एक और जिंदगी (1961 ई.)

9. मिले-जुले चेहरे (1972 ई.)
10. एक एक दुनिया (1972 ई.)
11. पहचान(1972 ई.)
12. मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियाँ (1972 ई.)
13. चेहरे (1972 ई.)

6. फौलाद का आकाश (1966 ई.)	14. वारिस (1972 ई.)
7. आज के साये (1967 ई.)	15. क्वार्टर (1972 ई.)
8. रोये रेशे (1968 ई.)	16. एक घटना (1974 ई.)

मोहन राकेश ने पहली कहानी 'नन्हीं' 7 मई 1944 ई. में लिखी। परंतु पहली प्रकाशित कहानी 'भिक्षु' थी जो 'सरस्वती' के अंक 46 में प्रकाशित हुई। जो उन्हें नई कहानी के अग्रदूत के रूप में प्रस्तुत करती है।

'मलबे का मालिक' कहानी राकेश की प्रगतिशीलता एवं सजग दृष्टि का परिचायक है। उनकी अधिकांश कहानियां समस्यामूलक हैं, जिनके पात्र प्रारंभ से विराट मानवीय चेतना का आयाम देते हैं, किंतु अंत में अन्तर्मुखी होकर अपने अकेलेपन और अजनबीपन का बोझ ढोते रहते हैं। 'आर्द्रा', 'उसकी रोटी' और 'मवाली' आदि कहानियों में उनके पात्र 'अंह' की परिधि से बाहर निकलकर सामाजिक हो गए हैं, इसलिए ये कहानियाँ सफल है।

मोहन राकेश की कहानियों में सामाजिक जीवन के यथार्थ का प्रतिबोधन, सूक्ष्म मानव-संबंधों का वर्णन, स्त्री-पुरुष के संबंधों का विच्छेद एवं अकेलेपन का एहसास, महानगरीय संत्रास एवं भयावहता, विभाजन एवं पारिवारिक विघटन, मनोवैज्ञानिक आदि की प्रमुखता है। कहानी के क्षेत्र में राकेश एक विशिष्ट व्यक्ति रहे हैं, जिन्होंने इसे एक नया मोड़ प्रदान किया है। उन्होंने कहानी के संबंध में अपने कई निष्कर्ष स्थापित किये और उन्हीं के आधार पर अपनी सभी कहानियों की रचना की। ये कहानी को एक प्राणशक्ति व्यक्त करने का सशक्त माध्यम मानते थे। कहानी उनके लिए व्यापक जीवन क्षेत्र में फैलाई हुई विधा है। राकेश की कहानियाँ विकसित व परिवर्तित होते जा रहे भारतीय जीवन पर आधारित है। हमारे आसपास का परिवेश ही उनकी कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। राकेश नई कहानी के अग्रदूत थे। नई कहानी के नाम से परवर्ती काल में विख्यात हुई कहानी धारा का प्रस्थान बिंदु राकेश की प्राथमिक रचनाओं में हैं। उन्होंने कहानी से संबंधित अनेक प्रश्न उठाये व उन्हीं के माध्यम से उन्हें रचनात्मक दृष्टि दी।

संक्षेप में कह सकते हैं कि मोहन राकेश की कहानियों में मानव मन की भीतरी परतों को तलाशने का काम बड़ी खूबी से किया गया है। मोहन राकेश छोटी-छोटी फलक पर गहरा संकेत करना चाहते हैं और वह भी विशेष

रूप से आज के तनावों और संत्रासों की ओर। एक अन्य स्तर पर राकेश की कहानियाँ इस दृष्टि से भी अलग तथा समकालीन है, जहाँ समय की उपस्थिति है। शायद इसलिए यह कहानियाँ आसपास के जीवन को प्रक्षेपित करती हुई संवेदना के स्तर पर चलती है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का विशेष महत्त्व है।

ख. उपन्यास साहित्य :-

एक कहानीकार के रूप में मोहन राकेश को जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी ही सफलता उन्हें एक उपन्यासकार के रूप में भी प्राप्त हुई है। यह बात और है कि हिंदी के अधिकतर समीक्षक ने उनके उपन्यासकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा उनके नाटककार के व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दिया है। कहानी की भाँति उपन्यास में भी उन्हें सफलता हासिल है। अपने उपन्यासों में उन्होंने आधुनिक जीवन की सार्थकता को अभिव्यक्त किया है। मोहन राकेश ने कुल मिलाकर तीन ही उपन्यास लिखें हैं, किंतु उनके तीनों उपन्यास वर्तमान मानवीय जीवन की विसंगति को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त करती हैं।

उपन्यास आज के साहित्य की सबसे अधिक प्रिय और सशक्त विधा है। इसका प्रमुख कारण इसका मनोरंजन का तत्व तथा जीवन को उसकी बहुमुखी छवि के साथ व्यक्त करने की शक्ति और अवकाश होता है। साहित्य की समस्त विधाओं में उपरोक्त गुण होते हैं किंतु ये अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण इन दोनों तत्वों का प्रस्फुटन उपन्यास जितना नहीं कर पाता। उपन्यास का विषय मानव के सामाजिक जीवन से संबंधित होता है जो अनेक द्वंदों, विषमताओं और संघर्षों से घिरा शोषण का शिकार होता है।

प्रेमचंदोत्तर एवं साठोत्तरी कथाकारों में मोहन राकेश महत्त्वपूर्ण हैं। मोहन राकेश ने उपन्यास को जीवन के नए धरातल पर प्रस्तुत किया। जिसमें सजग सामाजिक चेतना, प्रगतिशील दृष्टिकोण, मानव संबंधों में उतार-चढ़ाव, नए पुराने मूल्यों के प्रति टकराव और उससे उत्पन्न आत्मपीड़ा, अलगाव, अजनबीपन आदि को बड़ी ही संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। आधुनिक जीवन की विषमताएँ और मनुष्य के स्वरूपों को प्रस्थापित करने का काम मध्यवर्गीय समाज का व्यथित स्वरूप पति-पत्नी के अन्तरंग संबंध तथा उनकी अभिशप्त और तनावपूर्ण स्थितियों का भौतिक यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करके राकेश ने कथा साहित्य को एक नया आधुनिक बोध प्रदान किया है तथा वर्तमान पीढ़ी को अपने अस्तित्त्वों की पहचान करने के लिए बाध्य किया है।

मोहन राकेश के प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं –

1. अंधेरे बंद कमरे में (1963 ई.)
2. न आने वाला कल (1970 ई.)
3. अंतराल (1972 ई.)

मोहन राकेश के कुछ अन्य उपन्यास

1. स्याह और सफेद
2. काँपता हुआ दरिया (झेलम की माँझी)
3. कई एक अकेले
4. बीली रोशनी की बाँहें
5. गुंझल

प्रथम उपन्यास 'अंधरे बंद कमरे' मोहन राकेश का बहुचर्चित उपन्यास है, जिसमें आधुनिक जीवन की विसंगतियों की जीवंत गाथा प्रस्तुत की गई है। इसमें द्वन्द की प्रधानता है। दिल्ली नगरी अपने समग्र परिवेश में जैसे सजीव-साकार हो उठी है। मोहन राकेश का दूसरा उपन्यास 'न आने वाला कल' अस्तित्ववादी जीवन दर्शन पर आधारित है। तीसरे उपन्यास 'अंतराल' में उपन्यासकार ने सामाजिक मान्यताओं और संबंधों में आ रहे मूलभूत तनावों और दरारों का सशक्त चित्रण किया है। इसमें उभरा द्वन्द वास्तव में आज की द्वन्दग्रस्त समग्र मानव-चेतना का द्वंद है। मोहन राकेश के प्रायः सभी उपन्यासों में मानवीय संबंधों, विशेषकर दाम्पत्य-संबंधों में आयी कटुता, पीड़ा और विसंगतियों के विशद शब्द चित्र है। यह राकेश जी की उपलब्धि है कि उन्होंने साठोत्तरी जीवन और आये हुए बदलाव को अपने रचना धरातल पर ईमानदारी से उकेरा है।

ग. निबंध साहित्य :-

मोहन राकेश का व्यक्तित्व बहुआयामी था। यही कारण है कि साहित्य की अनेक विधाओं में उन्होंने अपना कुछ न कुछ योगदान दिया है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि रचनाकार किसी एक विधा विशेष में जितनी सफलता और यश प्राप्त करता है, उतनी दूसरी किसी विधा में उसे कदाचित् ही मिलती है। मोहन राकेश निबंध के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध हुए हैं। इनके निबंध खासकर नई कहानी और नाटक के दर्शन पक्ष को उद्घाटित करने में विशेष रूप से सफल हुए हैं।

मोहन राकेश के समस्त सृजन-पीठिका में उनका व्यक्तित्व प्रभावी बन गया। गद्य की जिस विधा की ओर वह उन्मुख हुए उसी में उन्होंने संपूर्ण जीवन चित्रों को उकेर दिया। आत्मप्रकाश मनुष्य की प्रबल प्रवृत्ति है, वह नाटक, उपन्यास, कहानी के साथ-साथ निबंध में भी अभिव्यक्ति पाती है। निबंध में लेखक का व्यक्तित्व सर्वाधिक अहमियत रखता है। रचनाकार भले ही अपनी इच्छा से साहित्य में अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण न करे, किंतु वह अनजाने ही उसके सृजन में समावेश कर जाता है। उनके निबंध किसी एक वर्ग तक सीमित न रहकर शैली व विषय विविधता के कारण अनेक वर्ग के हो गए हैं। इनके द्वारा लिखित निबंध निम्नलिखित हैं -

1. परिवेश (1967 ई.)

2. बकलम खुद (1974 ई.)

3. रंगमंच और शब्द

4. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि

5. कुछ और अस्वीकार

6. नयी निगाहों के सवाल

7. हाशिए पर

8. समय –सारथी

9. आईने के सामने

इसके अतरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी सामाजिक प्रसंगों में इनका लेखन प्रकाशित हुआ है। मोहन राकेश का पहला निबंध संग्रह 'परिवेश' है जिसमें कुल इक्कीस निबंध हैं। 'परिवेश' के अधिकांश निबंध अपनी सहज एवं प्रभावपूर्ण संप्रेषणीयता के कारण मर्मस्पर्शी बन गए हैं। 'बकलम खुद' में नई कहानी से संबंधित लेखों का संग्रह है। ये लेख समय-समय पर 1960-63 के बीच 'बकलम खुद' स्तम्भ के अंतर्गत मासिक 'नई कहानी' में 1964 ई. में 'नई निगाहों के सवाल' स्तम्भ के अंतर्गत मासिक 'सारिक में तथा 1967 ई. में 'कुछ और अस्वीकार' के अंतर्गत मासिक 'सारिका' में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों में नई कहानी का दर्शन-पक्ष तो उजागर हुआ ही है, साथ ही उसके रूप-विधान और शैली पर भी गहराई के प्रकाश डाला गया है। हिंदी के आलोचना-साहित्य में इनका स्थायी महत्त्व है। मोहन राकेश ने 'साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि' नामक निबंध-संग्रह में उन लेखों का संकलन किया है, जो पुस्तकों में अब तक अप्रकाशित दृष्टि तथा कार्लो क पोला के साथ एक महत्त्वपूर्ण भेंट आदि विषयों का समावेश किया गया है।

मोहन राकेश विभिन्न शैलियों में निबंध लिखे हैं। उनके अधिकतर निबंध समीक्षात्मक, चिंतनपरक, आत्मपरक शैली के अंतर्गत आते हैं। उन्होंने अपने निबंध साहित्य में विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि मोहन राकेश की निबंध शैली विषय की दृष्टि से मौलिक तथा उत्कृष्ट है।

घ. नाटक साहित्य :-

मोहन राकेश ने लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई, लेकिन सबसे अधिक सफलता उन्हें नाटकों में मिली है। उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया है कि नाटक सीधे रंगमंच से जुड़े रहे। इस विधा में उन्होंने बहुत ज्यादा नहीं लिखा लेकिन जितना भी लिखा है, उसमें आधुनिक संवेदना के स्वर खुलकर सामने आये हैं। नाटककार के रूप में भी मोहन राकेश निःसंदेह प्रसादोत्तर युग के अग्रणी नाटककार हैं। नाटक भारतेंदु और प्रसाद से बहुत कम हैं, पर निश्चय ही कलात्मकता एवं रंगमंच आदि की दृष्टि से राकेश के नाटक इन दोनों महान व्यक्तियों

के नाटकों से कहीं आगे हैं। राकेश ने नाटककार के रूप में निश्चय ही नये क्षितिजों का अन्वेषण एवं उद्घाटन किया है।

मोहन राकेश के नाटक अधिकांशतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों पर रचे गए हैं। पर उनका अंतराल भाव-बोध जितना ऐतिहासिक हैं, उससे भी कहीं अधिक आधुनिक है। 'आधे-अधूरे' तो समग्रतः आधुनिक भाव-बोध से संयत नाटक ही है, यद्यपि उसकी चेतना और समस्या को हम चिंतन भी कह सकते हैं। ऐतिहासिकता के संदर्भ में राकेश का अपना विचार एवं कथन है कि "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय-तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उद्देश्य कभी नहीं रहा। साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहासकार विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज और कल' उसके लिए 'आज और कल' नहीं रह जाते, समय की असीमितता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा- संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य है।"[7] वास्तव में ये सारी बातें राकेश के अपने नाटकों में पूर्णतया चरितार्थ होती है। इन दृष्टियों से उनका 'आधे-अधूरे' जैसे नाटक का भी आने वाले कल के लिए ऐतिहासिक महत्त्व है। उनके अन्य नाटक तो ऐतिहासिक परिवेश वाले ही हैं। उन्होंने चार नाटकों की रचना की है –

1. आषाढ़ का एक दिन
2. लहरों के राजहंस
3. आधे-अधूरे
4. पैर तले जमीन

एकांकी:-

1. अंडे के छिलके

2. एकांकी तथा बीज नाटक

1. आषाढ़ का एक दिन:-

मोहन राकेश का पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास को लेकर लिखा गया है। मोहन राकेश ने कालिदास के माध्यम से एक ऐसे सर्जक का चित्र प्रस्तुत किया है, जिसके मन में लगातार द्वंद चल रहा है। यहाँ पर कालिदास की केवल कथा कहना नाटक का उद्देश्य नहीं है, बल्कि एक कवि के मन को व्याख्यायित करना राकेश जी का उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि यहाँ पर ऐतिहासिक पात्रों के साथ कल्पित पात्रों का राकेश ने सृजन किया है। मोहन राकेश की विशेषता यह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' प्रथम नाट्य रचना होते हुए भी यह उनकी प्रौढ़ कृति मानी जाती है। यह नाटक आधुनिक संदर्भ को व्यक्त करता है, उसमें कश्मीर की जनता का विद्रोह के साथ कालिदास की असफलता को दर्शाया गया है। कालिदास की प्रिया मल्लिका, कालिदास के चले जाने पर यातना में डूब जाती है । इस तरह नाटक के अंत में करुण यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। मोहन राकेश ने सृजनात्मक अनुभव से युक्त नाटक देकर निःसंदेह हिंदी रंगमंच और रंगकर्मियों को एक सम्मानीय भाव दिया है।

2. लहरों के राजहंस:-

सन् 1963 में प्रकाशित 'लहरों के राजहंस' नाटक लेखन कर्म की दृष्टि से मोहन राकेश का दूसरा लोकप्रिय नाटक है। यह नाटक आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना पद्धति पर लिखा गया नाटक है,और इसमें इसी पद्धति के व्यवहारों और रुढियों का पालन किया गया है। इस नाटक में मोहन राकेश ने नंद और सुंदरी जैसी ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से इतिहास और कल्पना का संयोजन किया है। 'लहरों के राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच एक कृतिम और आरोपित द्वन्द है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतंत्रता भी नहीं रह जाती। अनिश्चित, अस्थिर और संशयी मन वाले नन्द की यही चुनाव की यातना ही इस नाटक की मूल कथा और उसका केंद्र बिंदु है।

3. आधे-अधूरे:-

मोहन राकेश द्वारा लिखित तीसरा महत्त्वपूर्ण नाटक 'आधे-अधूरे' है। इस नाटक को समकालीन जिंदगी का पहला सार्थक हिंदी नाटक कहा जा सकता है। इस नाटक का फलक न तो बहुत विस्तृत है और न ही विशाल किंतु इस नाटक की समस्याएँ आधुनिक सामाजिक जीवन से जुड़ी हुई है। इस नाटक की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है, इसमें यह सामर्थ्य है, जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। इसके पात्रों की मनः स्थितियाँ यथार्थपरक तथा विश्वसनीय है। यह नाटक एक स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच के लगाव और तनाव का दस्तावेज है। इसमें महेंद्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है, सावित्री भी उसे चाहती है, लेकिन ब्याह होने पर महेंद्रनाथ को बहुत निकट से जानने के बाद उसे उससे वितृष्णा होने लगती है, क्योंकि जीवन से सावित्री बहुत कटु हो गई है। एक ओर घर को चलाने का बोझ तो दूसरी ओर जिंदगी में कुछ भी हासिल न कर पाने की तीखी कचोट है। इतना ही नहीं वह अपने बच्चों के बर्ताव से अत्यंत त्रस्त हुई है। सावित्री बची-खुची जिंदगी को ही एक पूरे, संपूर्ण पुरुष के साथ बिताने की आकांक्षा रखती है, परंतु उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती है।

4. पैर तले की जमीन:-

'पैर तले की जमीन' मोहन राकेश का चौथा अपूर्ण कालिक नाटक है, जो उनके निधन के पश्चात् सन् 1975 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक की कथावस्तु आज के आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं से युक्त है। इसमें यथार्थता है। इसमें प्रत्येक वर्ग, समाज का व्यक्ति अपनी कमजोरियों और आज अर्थ की महत्ता में 'कुछ बनने की अंधी दौड़ में उसके सामाजिक, पारिवारिक जीवन के मूल्यों में एक टूटन, बिखराव महसूस करता है।

मोहन राकेश के एकांकी, ध्वनि, बीज तथा पार्श्र्व नाटक में नियोजित पात्रों का मूलतः रचनाकार की अनुभूतिपरक मानसिकता के परिदृश्य में रूपांकित हुआ है। उनके प्रारंभिक एकांकी, यथा- अंडे के छिलके, सुबह से पहले, अथवा सिपाही की माँ, में यह स्वर शिल्पगत नवीनता के साथ कमोबेश परम्परावादी है, किंतु 'कुंवारी धरती, 'दूध और दांत, तथा बहुत बड़ा सवाल' में उत्तरोतर परम्परा और परिवेश के प्रतिविरोध का रूप धारण करता है। बीज नाटक एवं पार्श्व नाटक के रूप में राकेश जी उल्लेखनीय हैं। भारतीय नाटक को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर के रंगमंच तक पहुचाने का श्रेय मोहन राकेश जी को हैं।

कथा, तत्त्व, चरित्र सृष्टि, मंचीयता आदि को उन्होंने पूर्ण स्वाभाविक और व्याहरिकता प्रदान की है। उनकी परिकल्पनाएँ यथार्थ से प्रेरित समकालीन जीवन की समस्यामूलक, आस्तित्वादी चेतना में भूली हुई मानव की प्रतिमूर्तियाँ है। अपने इन नाटकों में उन्होंने एक ऐसे मानव की रचना की है, जो प्रारंभ से इस सृष्टि के साथ जूझ रहा है और जूझता रहेगा। समाज को इस वास्तविक बोध से परिचित करना उनकी सभी नाट्य कृतियों की आकांक्षा रही।

ङ. डायरी साहित्य:-

मोहन राकेश ने आत्म-कथ्य के रूप में डायरी लिखी है जिसके कुछ अंश 'सारिका' में प्रकाशित हुए हैं। ये आत्मकथ्य सारिका में 'गार्दिश के दिन' तथा 'परिवेश' में 'चीटियों की पंक्तियाँ' जमीन से कागजों तक शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इन डायरियों की सबसे बड़ी विशेषता है जीवन और माहौल की छोटी से छोटी चीज की बड़ी से बड़ी चीज तक अत्यंत बेलाग और गहन प्रतिक्रियाएँ देना। रचनात्मक अनुभूतियाँ और प्रेरणा का मूल स्त्रोत इनकी डायरी में देखा जा सकता है। मोहन राकेश ने कई बार कोशिश की पर बीच-बीच में छूटती गई, किंतु उन्होंने पुनः लिखना शुरू कर दिया। वस्तुतः डायरी एक बहुत ही व्यक्तिगत चीज होती है यही आदमी का सच्चा स्वरूप है जिसमें वह बिना लाग-लपेट के अपना अन्दर-बाहर का सब व्यक्त करता है। इसमें केवल उसकी नहीं अपितु उसके साथ जुड़े समस्त व्यक्तियों की सच्चाइयों की भी अभिव्यक्ति होती है। एक लेखक अपनी साहित्य विधाओं के माध्यम से स्वयं को व्यक्त तो कर लेता है किंतु यह सीमित अभिव्यक्ति होती है। डायरी लिखकर वह स्वयं को हल्का महसूस करता है। मोहन राकेश जैसे भावुक रचनकार के लिए डायरी लिखना अति-आवश्यक हो जाता है। उनकी डायरी में युवाकाल से लेकर अंत तक के अनुभव है। उनके जीवन में जो भी पात्र आये उसको उन्होंने सीधे-सच्चे शब्दों में व्यक्त किया है।

प्रकृति का चित्रण और जीवन का माहौल, दार्शनिक अभिव्यंजना, जीवनानुभूति आदि के समन्वय से राकेशजी की डायरी सामान्य डायरी न रहकर एक साहित्यिक कृति बन गई है।

च. यात्रा-विवरण और संस्मरण साहित्य:-

यात्रा वृतांत से सीधा तात्पर्य है यात्रा का विवरण। मनुष्य स्वभावतः यायावर होता है। इसी वृत्ति के कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर अपनी आत्मतृप्ति करता है और अनेक उद्देश्यों को पूर्ण करता है। मोहन राकेश का यात्रा-संस्मरण जीवन के गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है। मोहन राकेश बहुत घुमक्कड़ किस्म के थे। कभी भी एक जगह नहीं रहते थे। उनकी स्वयं की डायरी में आए अनेक शब्दों के नाम इसका प्रमाण है। संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, आत्मकथा, रिपोतार्ज, जीवनी आदि सभी पर राकेश जी की कलम चली है।

यात्रा-विवरण संबंधी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. आखरी चट्टान (1955)

2. पतझड़ का रंगमंच

3. ऊँची झील

4. व्यक्ति-आत्मकथा

5. सतयुग के लोग

'आखिरी चट्टान' में उन्होंने गोवा से कन्याकुमारी तक की यात्रा का चित्रण किया है। जिन-जिन स्थानों को मोहन राकेश ने यात्रा के समय देखा उन स्थानों को उन्होंने सदा के लिए अपनी रचना को अंकित कर अमर बना दिया। इस यात्रा-वृतांत में उन्होंने प्रमुख रूप से भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। एक के बाद एक लगातार कई चित्र वे अंकित करते जाते हैं और प्रत्येक चित्र सहज शैली में सजकर अधिक आकर्षण और प्राणवान हो उठता है। उन्होंने इस रचना में प्रसाद शैली, तरंग शैली, चित्रात्मक शैली और संवाद शैली का प्रयोग किया है।

छ. अनुवाद साहित्य :-

मोहन राकेश के द्वारा अनूदित तीन रचनाएँ हैं –

1. मृच्छकटिक

2. शाकुंतल

3. एक और का चेहरा

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार शूद्रक का बहुचर्चित नाटक ‘मृच्छकटिका’ का हिंदी अनुवाद मोहन राकेश ने प्रस्तुत किया। संस्कृत की समृद्ध नाट्य परंपरा से गहरे परिचय के कारण उनकी नाट्य कृतियाँ अधिक सफल है। कालिदास की विश्व-प्रसिद्ध नाटक कृति ‘अभिज्ञान शकुन्तलम्’ और शूद्रक कृत ‘मृच्छकटिका’ का सरल अनुवाद कर मोहन राकेश ने सामान्य पाठकों के लिए उसे सुलभ बनाया है। सन् 1965 में ‘अभिज्ञान शकुन्तलम्’ का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। अनुवाद के संबंध में मोहन राकेश की धारणा और उनके विचार तथा अनुवाद के प्रति उनकी गंभीरता का परिचय ‘शकुन्तलम्’ की भूमिका से मिलता है।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार हेनरी जेम्स की श्रेष्ठतम कृतियों में से एक है – ‘दि पोर्ट्रेट ऑफ़ ए लेडी’। इस उपन्यास को मोहन राकेश ने ‘एक औरत का चेहरा’ नाम से अनुवाद किया। हेनरी जेम्स के उपन्यास संबंधी कठिनाई से राकेश जी भलीभांति परिचित थे और उनके सामने प्रमुख दो चुनौतियाँ थी अंग्रेजी मुहावरे और अनुवाद को अनुवाद की कृत्रिमता से बचाते हुए अपनी भाषा की सहज अन्विति में अर्थ संप्रेषण की। एक वर्ष के परिश्रम के उपरांत उन्होंने इस उपन्यास को हिंदी में अनुदित किया। विश्व की एक श्रेष्ठ कृति का अनुवाद राकेश जी की ही नहीं, बल्कि यह हिंदी साहित्य की उपलब्धि है।

ज. जीवनी साहित्य :-

मोहन राकेश ने जीवनी विधा की भी रचना की है। ‘समय सारथी’ नामक उनकी रचना साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। राकेश जी ने ‘समय सारथी’ में क्रांतिकारी विचारकों और आधुनिक विचारकों के जीवन चरित्र को रेखांकित किया है। गौतम बुद्ध, सुकरात, अशोक, जोन ओफ अर्क, कबीर, मीरा, दयानंद स्वामी, भगतसिंह, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू और मार्टिन लूथर किंग देशकाल से पूर्व मानव जाति को दिशा देने

वाले ‘समय सारथी’ है। महापुरुषों की जीवनी और वर्तमान के संदर्भ में उनकी उपयोगिता का एक महत्त्वपूर्ण निर्देश ‘समय सारथी’ में है।

इन महापुरुषों में कवि, विचारक, कलाकार, क्रांतिकारी और महान् राजनेता है। मोहन राकेश ने महापुरुषों की प्रमुख घटनाओं को लेकर उनके विचारों और सिद्धांतों को भी स्पष्ट किया है। एक जीवनीकार की दृष्टि से मोहन राकेश का मौलिक चिंतन इसमें व्यक्त हुआ। गौतम बुद्ध और सुकरात की जीवनियों में शांति, करुणा, मानवता आदि के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है तो कबीर और मीरा की जीवनी में विद्रोह और क्रांति की भावना किस प्रकार से भाव और विचारों की एकता को लेकर चली है यह स्पष्ट किया गया है। साथ ही साथ वाल्टेयर, गांधी, नेहरू और मार्टिन लूथर किंग जैसे व्यक्तियों की जीवनियों में समकालीन परिस्थितियों और परिवेश को यथार्थ रूप में अंकित किया गया है। मोहन राकेश ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग जैसी अपनी कहानियों और नाटकों में किया है वैसे जीवनी में भी। उन्होंने बोलचाल की सुबोध भाषा का प्रयोग किया है। राकेश द्वारा लिखी गई यह रचना कहीं वर्णनात्मक शैली को लेकर चली है तो कहीं भावुकता पूर्ण शैली को। मोहन राकेश के जीवनीपरक ग्रन्थ का उद्देश्य महापुरुषों के जीवन की घटनाओं का मात्र क्रम या उल्लेख करना नहीं है, बल्कि उन्होंने महापुरुषों के महान संदेश और उनके मानवता से जुड़े हुए रूप को विस्तार से विश्लेषित करने का प्रयास है।

मोहन राकेश ने साहित्य जगत में अपना एक नया मुकाम तय किया है साथ ही साथ जीवन में आयी सभी मुसीबतों एवं कष्टों को सहकर उनसे डटकर सामना किया। मोहन राकेश के जीवन में इतने संघर्ष थे कि वे सीधे सपाट व्यक्तित्व के नहीं रह सकते थे। उनका जीवन संघर्ष से ही शुरू हुआ और संघर्ष में ही समाप्त हुआ। बाहर से हंसी के ठहाके लगानेवाला यह रचनाकार अपने भीतर संसार में वेदना लेकर जीता है। अपनी आतंरिक पीड़ा और व्यथा को वे ख़ामोश होकर भोगते रहे।

झ.पत्र लेखन:-

मोहन राकेश के पत्र भी प्रकाशित हुए है। ये पत्र लेखन की मानसिकता एवं उसके अंतरद्वन्द्व को रूपायित करते है।

ट.रिपोर्ताज:-

रिपोर्ताज के नाम पर मोहन राकेश की 'सतयुग के लोग' कृति उपलब्ध है। यह रचना कहानी और रिपोर्ताज का मिला-जुला रूप प्रतीत होती है।

ठ.शोध–प्रबंध (अपूर्ण) :-

'नाटक में सही शब्द की खोज' को लेकर मोहन राकेश ने नेहरु फेलोशिप के अंतर्गत शोध-कार्य किया था। इस कार्य के सिलसिले में वे विदेश भी गये थे। और 'शब्द' के 'अर्थ' की तलाश में उन्होंने विदेशी भाषाओं के नाट्य-साहित्य का अध्ययन भी किया था।

इसके अतिरिक मोहन राकेश ने बाल-साहित्य (बिना हाड-मांस का आदमी) भी लिखा है। साथ ही 'पांच पर्दे' नामक एकांकी-संग्रह तथा राजेन्द्र यादव की कहानियों का सम्पादन भी किया है। मोहन राकेश के कुछ नाटकों एवं कहानियों का अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

मोहन राकेश के कृतित्व को देखकर हम कह सकते हैं कि वे बहुमुखी प्रतिभा संपन्न रचनाकार थे। उन्होंने गद्य की विविध विधाओं को लेकर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। गद्य की विधाओं में उन्होंने कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक समीक्षा, रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, जीवनी, यात्रा-वृतांत आदि बहुत कुछ लिखा, जिसमें एक सफल और श्रेष्ठ गद्यकार का सहज, स्वाभाविक और मोहक रूप दिखाई देता है।

अनुभूति की गहरी पकड़ मोहन राकेश में थी। अनुभूति सत्य और भोगे हुए यथार्थ को उन्होंने अपनी हर रचना में बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने आडम्बर, कृत्रिमता और भावुकता को निष्कासित कर अपने पाठकों के साथ अपना आत्मीय संबंध स्थापित किया। वास्तव में उनकी रूचि रचनाओं में वर्तमान जीवन की आधुनिकता, अनुभूति का सत्य और अभिव्यक्ति की जीवंतता व्यक्त हुई है।

संदर्भ :

1. मोहन राकेश के नाटक, डॉ. द्विजराम यादव, पृ. सं.- 29
2. नाटक रंगमंच और मोहन राकेश, डॉ. सुरेन्द्र यादव, पृ. सं.- 75
3. सारिका, मार्च 1973, पृ. सं.- 61
4. मोहन राकेश के नाटक, डॉ. द्विजराम यादव, पृ. सं.- 39
5. नाटक रंगमंच और मोहन राकेश, डॉ. सुरेंद्र यादव, पृ.सं.- 79
6. मोहन राकेश की डायरी, पृ. सं.- 204
7. आधे-अधूरे : समीक्षा, प्रो. राजेश शर्मा, पृ. सं.- 10

तृतीय अध्याय

आधे-अधूरे नाटक की मूल संवेदना

3. क. संवेदना: स्वरूप, परिभाषा और अवधारणा :-

हृदय को जो भाव स्पर्श करे अथवा छू ले उसे संवेदना कहते हैं। किसी भी भाव या स्थिति का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसे संवेदना कहते हैं। इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। यदि हम अपने आस-पास ही नजर डालें तो यह दुनिया कितनी बड़ी और भरी पूरी नजर आती है। इसके इतने सारे रंग और रूप है। इतने सारे पदार्थ और वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक घटना हम पर किसी न किसी रूप में असर करती है, जैसे पानी में पत्थर फेकने से तरंग उठती है वैसे ही हम जब कुछ देखते हैं तो हम भी प्रतिक्रिया करते हैं। हमारा भी हृदय प्रतीत होता है कि संवेदना मात्र इन्द्रियों के उत्तेजना की ही चेतना अवस्था है।

संवेदना का अर्थ

संवेदना 'संस्कृत' का शब्द है। जिसका अर्थ है सुख-दुःख का अनुभव या ज्ञान की प्रतीति। 'संवेदन' शब्द पुलिंग है। इसमें 'आ' प्रत्यय लगने से उसका स्त्रीलिंग रूप 'संवेदना' बना है। विभिन्न विद्वानों ने 'संवेदना' का अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश की है। संवेदना शब्द की व्युत्पति 'वेदना' शब्द के पूर्व 'सम्' उपसर्ग लगा देने से होती है। यह 'वेदना' शब्द 'विद्' धातु से बना है। संस्कृत भाषा में इस 'विद्' धातु का अर्थ पीड़ा या संताप के अतिरिक्त प्रमुख रूप से ज्ञान से होता है। विद् धातु में 'धृ' ल्युट और 'टाप्' प्रत्यय लगा देने से वेदना शब्द बनता है।

विद् + ध् + ल्युट् + टाप् = वेदना

इस 'वेदना' शब्द के पूर्व 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'संवेदना' शब्द बना है। 'सम्' का अर्थ होता है - सम्यक रूप से, समान रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से। जिस रूप में है, उस रूप से। इस प्रकार संवेदना का व्युत्पत्ति परख अर्थ पीड़ा या ज्ञान की सम्यक् रूप से बोध कराने से होता है। 'संवेदना' शब्द में 'सम्' उपसर्ग है। 'सम्' उपसर्ग

जुड़ने पर ‘संवेद’ ‘संवेदन’ और ‘संवेदना’ शब्द बनते हैं। जिसका सामान्य अर्थ क्रमशः है - अनुभव या वेदना, अनुभव या प्रतीत करना और सहानुभूति।”[1]

“साधारणतः संवेदना या संवेदना शब्द का अर्थ होता है अनुभव करना, सुख-दुःख आदि की प्रतीत करना, ज्ञान अथवा अनुभूति विदित होना। संवेदना शब्द के मूल में ‘वेद’ शब्द है। वेद से वेदना और संवेदना शब्द बने हैं। हिंदी में यह शब्द प्रायः सह्रदयता, सहानुभूति (सह+अनुभूति) के यथार्थ के रुप में ही प्रचलित है।”[2]

‘अंग्रेजी में ‘संवेदना’ के करीब पड़नेवाला शब्द है – संसेशन (SENSATION), फिलिंग (FEELING), सेंसिटिव (SENSITIVE)। अंग्रेजी पर्याय के अनुसार ‘संवेदना’ शब्द के अंतर्गत इन्द्रियानुभव भागनुभव सहानुभूति, अनुभव प्राप्ति की प्रक्रिया आदि का समाहार हो जाता है।”[3]

साहित्य में इस शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। विशेषतः जब हम मानवीय संवेदना की बात करते हैं तो उसका आशय मात्र ज्ञानेन्द्रियाँ का अनुभव न रहकर मानव मन की अतल गहराइयों में छिपी करुणा, दया एवं सहानुभूति की उदात्त वृत्तियों तक हो जाता है। अपने व्यापक अर्थ में संवेदना ‘अनुभूति’ का भी व्यंजक है।

समग्रतः संवेदना का अर्थ हुआ – वस्तुबोध की प्रक्रिया में मस्तिष्क की विशिष्ट उत्तेजना की भाँति विह्वल ह्रदय से निःसृत विशिष्ट अर्थ-दृष्टि। किसी के प्रति उपजी करुणा या दुःख को देखकर स्वयं भी वैसा ही अनुभव करना संवेदना है। आधुनिक साहित्य संज्ञा कोश (गुजराती) में उसे अन्तःक्षेप (EMPATHY) ‘सम-संवेदना’ कहा गया है। भाषा, भाव, और प्रेरणा तीनों ही प्रत्येक काल में संवेदना को नई अर्थवता प्रदान करते हैं। इसी तरह संवेदना का मूल अर्थ हुआ अनुभूति करना, सह्रदयता, सहानुभूति, करुणा, सम-संवेदना रूप से अभिव्यक्त करना, इन्द्रियानुभव आदि संवेदना के अर्थ की पुष्टि करते हैं।

संवेदना का कोशगत अर्थ :-

‘संवेदना’ का शाब्दिक अर्थ को जानने के पश्चात् अब हमें संवेदना के कोशगत अर्थ को जानना आवश्यक है।

1. हिंदी – संस्कृत कोश के अनुसार:-

"संवेदनम् अनुभव: सुख-दुःखादि प्रतीति।"[4]

2. दिनमान हिंदी शब्द कोश के अनुसार:-

"संवेदना का अर्थ अनुभव, अनुभूति है।"[5]

3. संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर के अनुसार:-

"संवेदना अर्थात् सम-वेदना का द्योतक है।"[6]

4. नालंदा विशाल शब्द सागर के अनुसार:-

"मन में होने वाले शोध या अनुभव और किसी की प्रकट में देखकर होने वाला दुःख सहानुभूति।"[7]

5. गुजराती के बहुचर्चित ग्रंथ भगवद्गोमंडल के अनुसार:-

संवेदना जानना अनुभवजन्य, इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान-जानकारी वहीं संवेदना- लगाव आंतर चेतना उर्मि।"[8]

6. शब्दार्थ विचारकोश के अनुसार:-

गुण, प्रवृत्ति स्वभाव आदि की पारस्परिक समानता के अवसर पर ह्रदय में या मनुष्य के मन में वैसा ही वेदना अनुभूति होती है जैसा वेदना या अनुभूति अपने किसी आत्मीय व्यक्ति को होती है।"[9]

7. मानविकी पारिभाषिक कोश के अनुसार:-

आजतक सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। साहित्य में इसका प्रयोग 'स्नायायिक' संवेदनाओं की अपेक्षा मनोगत संवेदना के लिए ही अधिक होता है.....संवेदशील व्यक्ति दूसरे किसी भी व्यक्ति के सुख-दुःख को समझकर उसमें अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है।"[10]

8. हिंदी साहित्य कोश के अनुसार:-

साधारणतः संवेदना शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। मूलतः संवेदना का अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है। मनोविज्ञान में इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। उसके अनुसार संवेदना उत्तेजना के संबंध में देह-रचना की सर्वप्रथम सचेतना प्रक्रिया है, जिसमें हमें वातावरण की ज्ञानोपलब्धि होती है।"[11]

अतः कुल मिलाकर कह सकते हैं कि विविध शब्द कोशों के अनुसार भी संवेदना का अर्थ अनुभव, सुख-दुःख की प्रतीति, इंद्रियों के माध्यम से जानकारी, सहानुभूति, सम-वेदना, व्यवहारिक बुद्धि आदि होता है।

संवेदना की परिभाषा :-

संवेदना की परिभाषा विद्वानों ने अपने-अपने मत के अनुसार दिया है।

डॉ. रामदरश मिश्र ने संवेदना को इस प्रकार विश्लेषित किया है – "मानवीय संवेदनाएँ सामान्यतः एक सी होती हुई भी वैशिष्ट्य धारण करती है। संवेदना के इस वैशिष्ट्य का अपने आप में व्याख्येम नहीं हो सकता, वह अनुभव कराया जा सकता है, विशिष्ट परिवेशों के माध्यम से।"[12]

डॉ. राजेंद्रकुमार के अनुसार " 'संवेदना' विशुद्ध ऐंद्रिक संवेदना का तात्पर्य नहीं है। (हालांकि ऐंद्रिक संवेदना के प्रत्यक्ष अथवा सहयोग का आत्यंतिक निषेध भी उसमें नहीं है) ऐंद्रिक संवेदना बाह्य यथार्थ के अनुभव के ढल जाना और फिर किसी बृहतर, किंतु सूक्ष्म अंतर्बोध या कि भाव दृष्टि से उसका संयोजन होना इस पूरी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो चीज उभरती है, वस्तुतः उसी को संवेदना का नाम दिया जाना चाहिए।"[13]

निर्मल वर्मा के अनुसार "कला का सामना करते हुए हम एक ऐसी दुनिया का समाना करते हैं, जो हमारी रोजमर्रा की दुनिया से मिलती-जुलती हुई हू-ब-हू बिल्कुल वैसी नहीं होती यह सपने की तरह चेतन जिंदगी के अंग होते हैं, जीती-जागती दुनिया से अलग होती है।"[14]

हिमांशु जोशी के अनुसार : हिमांशु जोशी अपनी लेखन के बारे में जो बताते हैं, वहीं उनकी संवेदना है। संवेदना के बारे में उनका मानना है कि "अपनी ही अंतः प्रेरणा से अपने ही जीवन संघर्ष से, अपने ही परिवेश से है।

इन सभी को मिलाकर जिस रचना की उत्पत्ति होगी वही मानवीय संवेदना से परिपूर्ण होगी। हिमांशु जोशी एक संवेदनशील व्यक्ति है। इनकी संवेदना मानव प्राणी के प्रति ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों तथा अन्य प्राणियों के साथ प्रकृति के प्रति भी दिखाई पड़ती है।"[15]

इनके विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिमांशु जोशी की ये आत्मा स्वीकृतियाँ ढंग से इसकी ओर ले जाती है कि वे अपनी संवेदनाओं का संसार अपने आसपास अवलोकित दुनिया से खींचकर स्वप्न की तरह रचते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार : 'संवेदना का अर्थ दुःखात्मक अनुभूति ही है, उसमें भी दु:खानुभूति से इसका गहरा संबंध है। संवेदना शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ में आया है। मतलब यह है कि अपनी किसी स्थिति को लेकर दुःख का अनुभव करना ही संवेदना है।"[16] शुक्लजी ने केवल दुःख के संदर्भ में ही इसे अनुभूतिपरक माना है। अर्थात् दुःख को ही संवेदना कहा गया है।

मुक्तिबोध ने संवेदना को इस प्रकार समझया है "संवेदना एक आंतरिक तत्त्व है जिसमें भाव, संवेग, मनोवृत्तियाँ, प्रछन्न विचारों और अवधारणाओं का संयमित आवेग रहता है।"[17]

डॉ. देवीप्रसाद गुप्त के अनुसार "साहित्यकार की चेतनानुभूति की उस मनोदशा अवस्था को संवेदना कहते हैं जो उसे सृजन की प्रेरणा, रचना-विधान की क्षमता एवं लोकजीवन के प्रति आस्था करती है।"[18]

डॉ. ज्योतिशर्मा के अनुसार "टूटते परिवार, घर से अलगाव, घर से छुटकारा पाने का प्रयत्न, स्त्री-पुरुष का अजीब से संबंध और असुरक्षा का भाव, अपनी अस्मिता की खोज, कुंठित व्यक्तित्व आदि हिमांशु के साहित्य में सूक्ष्म अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित हुए हैं, यही संवेदना है।"[19]

डॉ. रेखा शर्मा के अनुसार "एक निश्चित साँचे में ढले हुए निश्चित गुण-अवगुण लिए हुए इस वर्ग के सारे पात्र कोंवेटन नुमा होते हैं। निर्मल उन पात्रों से यथार्थों से खुद जूझते हैं। वे उन पात्रों के सृष्टा है और उन स्थितियों के दृष्टा मात्र न होकर उनके भोक्ता है। ये उन सारी स्थितियों में से खुद गुजरते हैं और इसलिए इनमें उनके कथा-साहित्य में घटनाएँ नहीं, बल्कि विविध संवेदनाएँ मिलती है।"[20]

संवेदना के उपर्युक्त विवेचन से अर्थगत गहराई का ज्ञान होता है, लेकिन ऐसा एक भी मत नहीं मिला है जिसे एक मात्र रूप में मानकर चलना संभव है। आज के साहित्य में जटिल परिवेश तथा परिवर्तनशील संदर्भों के माध्यम से लेखक या कवि अपने विभिन्न विचारों, कोणों से मानवीय संवेदना को प्रस्तुत करने में व्यस्त है। तभी इस माध्यम से ही संवेदना के विभिन्न एवं वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है। सामान्यतः संवेदना से मेरा यह अभिप्राय है कि "संवेदना वह अनुभूति प्रवणता है, जो अति सूक्ष्म भावों को ग्रहण करके उन भावों को महसूस करके प्रतीति के रूप में जो भाव प्रकट होते हैं उनको ही संवेदना कह सकते हैं। फिर यह भाव सुखद या दुखद भी हो सकता है । कथा-साहित्य में तो यही भाव किसी-न-किसी रूप में उभरकर सामने आता है । ज्यादातर साहित्यकार अपने युग के यथार्थ और अपनी संवेदना को मिलाकर, मानवीय संवेदना में ढलकर नव्यरूप में प्रकट करता है।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी विद्वानों के विचारों में एकमत नहीं है। समग्र रूप से कथा-साहित्य के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें मानव मात्र की आशाओं-निराशाओं, सुख-दुःख, अपेक्षाओं, मान-अपमानों, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, उत्साह कुंठा आदि के साथ-साथ सामाजिक विषमताओं, रूढ़ियों, परंपराओं में जकड़ा मजबूर मनुष्य और उसकी टूटती- बिखरती आशा, मध्यवर्गीय तनाव, घुटन तथा अजनबीपन आदि की सोद्देश्य अनुभूति करा देना एवं मनुष्य को मनुष्यत्व की पहचान करा देना वास्तविक अर्थ में संवेदना है।

संवेदना की अवधारणा :-

साहित्य का संबंध मूलतः मानव ह्रदय से है। वह रचनाकार के ह्रदय से निकलकर आस्वादक के ह्रदय तक पहुँचता है। ह्रदय से ह्रदय तक की इस यात्रा में मुख्य्य भूमिका संवेदना की है। संवेदना की अवधारणा के कई आयाम हैं । अनेक शब्दों के माध्यम से संवेदना की व्यापकता और विविधता प्रमाणित करने का प्रयास किया गया । निःसंदेह मानव एक है। हम सब विकासशील जीव तत्व की बात करते हैं, तब परिवर्तन के सिद्धांत को भी मान लेते हैं। चेतना स्वयं विकासशील है। संवेदना वह साधन है, जिसके सहारे जीव व्यष्टि से इतर सभी से संबंध जोड़ती है- वह संबंध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी, क्योंकि उसके सहारे जहाँ व्यष्टि अपने इतर जगत् को पहचानती है, वहाँ उसके अपने को अलग करती है।

प्रारंभ काल से लेकर आज तक यह संपूर्ण समाज जिस आधार पर टिका हुआ है, वह संवेदना ही है। बिना इस अनिवार्य मूलाधार के समाज उस तरह सुगठित नहीं हो सकता था जैसा कि है या मूल बिंदु अर्थात् अपने स्वरूप के पश्चात् जिस स्वरूप में रूपांतरित या पर्यवसित हुआ। दूसरी ओर महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि बिना इस अनिवार्य मूलाधार के यह समाज शायद मानवीय जैसे विशेषण भी ग्रहण न कर सकता। साहित्य की यही सार्थकता है कि वह हमारे संवेदना का विस्तार करता है। एक क्षण भी हमारे अस्तित्व का ऐसा नहीं जब हमारी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि किसी न किसी संवेदन की गिरफ्त में नहीं आती, यही संवदेना साहित्य सृजन का मूलाधार है।

मानव इस सृष्टि का सबसे संवेदनशील प्राणी है। दूसरे जीवों से जड़ परिस्थिति से उसकी संवेदना प्रतिक्रिया करती है। इतना ही नहीं, बल्कि उन प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन भी करती है। जीवन अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाता है। मनुष्य परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का चेतन और अवचेतन प्रयत्न करता है। व्यक्ति की संवेदना विस्तार करती है अर्थात् ज्यों-ज्यों जगत् से उसके संबंध नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश कर जाते हैं, त्यों-त्यों उसका विवेक विकसित होता जाता है और नारी संवेदना के साथ एक अनिवार्य नैतिक बोध भी जुड़ जाता है। संवेदना की इसी अनुभूति के कारण मानव सृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और श्रेष्ठ जीव है।

संवेदनहीन साहित्य का कोई मूल्य नहीं होता चाहे उसमें दर्शन की नई-नई भंगिमा क्यों न हो। बुद्धि, दर्शन, चिंतन, ज्ञान, विज्ञान सबको पहले जीवन में आत्मसात होना पड़ता है। आत्मसात होकर मानव-संवेदना का अंग बनना पड़ता है, तभी साहित्य में सत्यम्-शिवम् और सुन्दरम् की भावना प्रस्फुटित हो सकती है। संवेदनशील कलाकार जीवन की चुनी हुई घटनाओं को लेकर भाषिक संरचना द्वारा अभिनव कला-सृष्टि करता है क्योंकि "प्रेम के शब्द 'संवेदना' ही मानव के अंतरमन की सर्वाधिक पवित्र भावना है, सहानुभूति के दो शब्द किसी के दुःख कष्ट का निवारण भले ही न कर सके, उसके दिल को तस्सली तो दे ही सकता है। निश्चय ही संवेदना हमें आत्मीयता के प्रगाढ़ बंधन में बाँधती है। यह हमें कोमल अनुभूतियों के उस 'भाव लोक' में ले जाती है, जहाँ कृतज्ञता की मौन स्वीकृति है। दूसरों के सुख-दुःख को कोमलता से महसूस करने वाला ह्रदय ही न रहा तो मनुष्य के पास मनुष्य के लिए बचेगा क्या।"[21]

साहित्य की रचना अनवरत गति से विभिन्न रूपों में होती रहती है। 'संवेदना' का सर्वाधिक प्रभावशाली रूप अवतरित करुणा में होता है। साहित्य की उपयोगिता एवं उसकी सार्थकता ही हमारे संवेदना का विस्तार करती हैं। संवेदना एक क्षण भी ऐसा व्यक्ति को नहीं करता होगा, जिसमें उनकी बुद्धि किसी संवेदना की अनुभूति में न हो।

साहित्य का संबंध मानव ह्रदय से है। मानव ह्रदय से जुड़ी रचना किसी साहित्यिक आंदोलन का सहारा लिए बिना ही सफल होती है और कालातीत होती है। वाल्मीकि का 'रामायण' किसी आंदोलन की फलश्रुति नहीं है। वह तो क्रौंचवध की संवेदना से द्रवित और ह्रदय की संवेदना के रूप में निसृत हुई है। निषाद का आतिथ्य स्वीकारते राम किसी राजनीतिक आंदोलन के राम नहीं थे, और वन में परित्यक्त सीता किसी 'आँसूढार लेखनी' की ऊपज नहीं थी। 'वाल्मीकि रामायण' लेकर शायद उस युग में किसी चर्चा का आयोजन नहीं हुआ होगा, परंतु आज भी वह कृति जीवित है, क्योंकि वह संपूर्ण रूप से मानवीय संवेदना की कथा है।

संवेदना के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं – "यह ठीक है कि भाषा का मुख्य काम विचारों का संप्रेषण ही है। परंतु भाषा द्वारा दो प्रकार के संप्रेषण है, एक तो सूचनात्मक संप्रेषण है जिसमें हम श्रोता के चित् में किसी बात की सूचना का संचार करते हैं और दूसरा रचनात्मक संप्रेषण है जो श्रोता के चित् में प्रगाढ़ अनुभूति द्वारा जगायी गयी संवेदनाओं को मूर्त और अनुभव योग बनाता है वस्तुतः इस दूसरी श्रेणी के संप्रेषण को ही सभी अर्थ में संप्रेषण कहा जाता है।"[22]

साहित्य में संवेदना शब्द और अर्थ दोनों की सहायता से उभरती है। संवेदना मानव मन की उपज है। वह मानव मन के केंद्र में विद्यमान होती है। साहित्य के प्रत्येक विधा में संवेदना का मुख्य आधार रूप है। आज के रचनाकार की संवेदना भी परिस्थिति, अवस्था, सामाजिक स्तर, मानव मन की गहराइयों, चेतना, विश्वास, धारणा आदि संवेदना की व्यापकता प्रमाणित करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हम जिस सामाजिक अवस्था से गुजर रहे हैं, उसमें प्रमुख बात मानवीय आपसी संबंधों को नये परिवेश में समझने और संवेदना को जानने की है।

3.ख. संवेदना के विविध रूप और 'आधे-अधूरे

'आधे-अधूरे' नाटक में भी उपर्युक्त वर्णित संवेदना के विवध रूप देखने को मिलता है। मूलतः इस नाटक में मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय समाज में पनप रही विविध संवेदनाओं को उजागर करने का प्रयास किया है, जिसे एक एक करके निम्नलिखित प्रस्तुत किया जा रहा है -

3.ख.i. व्यक्ति एवं समाज संबंधी संवेदना:-

व्यक्ति समाज का एक अंग मात्र है। समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। उसे समाज के नियमों, मूल्यों एवं आदर्शों के अनुकूल ही चलना पड़ता है। व्यक्ति कभी कभी अपनी आर्थिक स्थिति के कारण समाज के अनुकूल नहीं हो पाता है। इस स्थिति को सुधारने के लिए वे बहुत प्रयास भी करता है। मध्यवर्गीय परिवार में आर्थिक स्थिति के कारण बहुत सारी विडंबनायें देखने को मिलता है। इन विडंबनाओं की पूर्ति करने के लिए वे इधर-उधर भटकते रहते हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक में व्यक्ति एवं समाज संबंधी संवेदना का खनन आर्थिक परिस्थिति के कारण दिखाई देता है। यह नाटक शहरों में बसने वाले मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। ये वर्ग हमेशा उच्चवर्ग की भाँति सुखी जीवन व्यतीत करना चाहता है लेकिन परिस्थितियाँ उनकी साथ नहीं देती है। इस नाटक में हर एक पात्र केवल अपनी ख़ुशी को तलाशने की कोशिश करता है। अपनों से बड़े की सम्मान कैसे करे यह भी दिखाई नहीं देता। बड़ी लड़की और पुरुष एक के बीच हो रहे वार्तालाप से यह सिद्ध होता है कि बड़ी लड़की अपनी ही सुख की बात कर रही है। जैसे–

"बड़ी लड़की: (तुनककर) तो जवाब क्या तभी होता अगर मैं कहती कि मैं खुश नहीं हूँ, बहुत दुखी हूँ।

पुरुष एक : आदमी जो जवाब दे, वह उसके चेहरे से भी झलकना चाहिए।

बड़ी लड़की : मेरे चेहरे से क्या झलकता है ? कि मुझे तपेदिक हो गया है ? मैं घुल-घुल कर मरी जा रही हूँ ?

पुरुष एक : एक तपेदिक ही होता है बस आदमी को ?

बड़ी लड़की : तो और क्या-क्या होता है ? आँख से दिखाई देना बंद हो जाता है ? नाक-कान तिरछे हो जाते हैं? मेरे चेहरे से क्या नजर आता है आपको।"[23]

भूमंडलीकरण के इस दौर ने मध्यवर्गीय समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है। आज के लोगों में दिखावापन की भावना घर कर गया है। वह हमेशा दिखावेपन के कारण ऊपर उठ नहीं पाते हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक के पात्र दिल्ली जैसे महानगरों में रहते हैं। दिल्ली की परिवेश, रहन-सहन में अपने आप को ढालना चाहते हैं किंतु आर्थिक परिस्थिति उनका साथ नहीं देती है। इस नाटक के पात्र केवल अपनी स्थिति सुधारने, अपनी पहचान बनाने, अपनी ख़ुशी को तलाशने की कोशिश करता है। और केवल अपनी-अपनी के चक्कर में वह परिवार से भी कटता चला जाता है। घर परिवार में भी एकता नहीं है तो समाज की कल्पना करना बेकार है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री भी केवल अपनी घर की स्थिति को सुधारने की कोशिश करती है किंतु थक हारकर अंत में अपनी ख़ुशी ही तलाशती है। वह भी चाहती है कि इन विसंगतियों से हटकर नया जीवन जीने की कोशिश करे। सावित्री पुरुष तीन के साथ आगे बढ़ना चाहती है लेकिन वह उसे मना कर देती है। निम्नलिखित उद्धृत इन पंक्तियों में देखा जा सकता है कि यहाँ केवल सावित्री अपने ही सुख चाहती है। वह पुरुष तीन के साथ फिर से नई जिंदगी जीना चाहती है। वह कहती है –

"स्त्री: (उसके हाथ पर हाथ रखकर)

पुरुष तीन : (हाथ सहलाता) क्या बात है, कुकू ?

स्त्री : मैं वहाँ पहुँच गई हूँ पहुँचने से डरती रही हूँ जिंदगी भर।

मुझे आज लगता है कि......

पुरुष तीन : (हाथ पर हलकी थपकियाँ देता) परेशान नहीं होते इस तरह।

स्त्री : मैं सच कह रही हूँ। आज अगर तुम मुझसे कहो कि.....।"[24]

वर्तमान समाज में बदलते परिवर्तन ने मनुष्य के रहन-सहन, तौर-तरीकें में बदलाव लाया है। मनुष्य में यह बदलाव आधुनिकीकरण के कारण हो रहा है। आज लोगों को भी यह लगता है कि आधुनिक होना ही उनकी पहचान है और आधुनिक होने के चक्कर में वे परिवार, समाज से कटते जा रहे हैं। इस भाग दौड़ की जिंदगी में अपनों के होने का महत्त्व नहीं समझते हैं। उनके लिए रिश्ते भी बोझ ही लगता है। इस नाटक में सावित्री अपने पति महेंद्र को किसी लायक नहीं समझती है, उसे लगता है कि वह केवल बिना हाड़-मांस का पुतला मात्र है। सावित्री पुरुष चार से अपने पति महेंद्र के बारे में कहती है कि-

"स्त्री: मत कहिए मुझे महेंद्र की पत्नी........बिना हाड़-माँस का पुतला है वो....

पुरुष चार : (उठता हुआ) बिना हाड़-माँस का पुतला, या जो भी कह लो तुम उसे पर मेरी नजर में वह हर आदमी जैसा एक आदमी है- सिर्फ इतना ही कमी है उसमें।

स्त्री : यह आप मुझे बता रहे हैं ? जिसने बाईस साल साथ जीकर जाना है उस आदमी को ?

पुरुष चार : जिया जरूर है तुमने उसके साथ....जाना भी है उसे कुछ हद तक लेकिन.....

स्त्री : (हताश से सिर हिलाती) ओफ्फोह ! ओफ्फोह ! ओफ्फोह।"[25]

व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है। पर इस नाटक में एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति में कोई मेल या रिश्तों में अपनापन दिखाई नहीं देता है। हर एक पात्र अपने-आप को बेहतर दिखाने का प्रयास करता है। रिश्तों में वह एहसास, लगाव धीरे-धीरे खत्म होते नजर आ रहे हैं। परिवार में साथ रहते हुए भी आधे-अधूरे नाटक के सभी पात्र अकेला महसूस करता है। सावित्री और बड़ी लड़की के बीच हुए वार्तालाप को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि पति-पत्नी साथ हुए भी केवल अपनी स्वार्थ के बारे में सोंचते हैं –

"बड़ी लड़की: दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस ले, उतना ही ज्यादा अपने को एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें?

स्त्री : तुम दोनों ऐसा महसूस करते हो ?

बड़ी लड़की : कम से कम अपने लिए तो मैं कही ही सकती हूँ।

स्त्री : (पल-भर उसे देखती रहती) तू बैठकर क्यों नहीं बात करती ?

बड़ी लड़की : मैं ठीक हूँ इसी तरह।"[26]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधे-अधूरे नाटक में केवल स्वयं की अनुभूतियाँ, अस्तित्व की पहचान और आगे बढ़ने की लालसा दिखाई देती है। इस नाटक के सभी पात्र केवल स्वयं की पीड़ा को व्यक्त करते हैं। यद्यपि इस कड़ी में वे यह भूल जाते हैं कि वे सभी एक परिवार के हिस्से हैं और आपसी मनमुटाव के कारण वे सभी स्वयं अपनी ही क्षति कर रहे हैं। व्यक्ति का इस प्रकार आत्मकेंद्रित हो जाना उसे न केवल अपने परिवार से काट देता है,बल्कि उसे समाज से भी काट देता है। लेखक समाज के सभी पात्रों की संवेदना व्यक्त करने का भरसक प्रयास किये हैं।

3.ख.ii. नई और पुरानी पीढ़ी : विचार वैभिन्नता :-

मानव-मानव में विचार वैभिन्नता हमें पहले से ही दिखाई दे रही है। पीढ़ियों में यह वैभिन्नता विभिन्न परिस्थितियाँ जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि कारणों से दिखाई देती है। मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक में नई पीढ़ी एवं पुरानी पीढ़ी में विचार वैभिन्नता देखने को मिलता है। यह नाटक आधुनिक समय के महानगरीय समाज में व्यवस्थित मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। इस नाटक में नई पीढ़ी के रूप में उभरकर आने वाले पात्रों में छोटी लड़की किन्नी, बड़ी लड़की बिन्नी एवं लड़का है तथा पुरानी पीढ़ी में पुरुष एक, पुरुष तीन, पुरुष चार एवं सावित्री है। पात्रों में नई एवं पुरानी पीढ़ी के बीच द्वंद्व देखने को मिलता है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री घर की बागडोर संभालती है। वह चाहती है कि हमेशा घर में सुख-शांति बनी रहे और इस सुख-शांति के लिए वह प्रयत्न करती है। वह आवश्यकता से अधिक पैसे खर्च नहीं करना चाहती है क्योंकि उसे पता है कि घर केवल उसी के कमाई से चलती है। वहीं दूसरी ओर लड़का निठल्ले की तरह इधर-उधर घूमता रहता है। उसे घर की स्थिति कैसे सुधारा जाय? इससे कोई मतलब नहीं होता है। वह घर की चीजें भी इधर-उधर लेजा कर बर्बाद कर देता है। स्त्री एवं लड़के के बीच का संवाद उदाहरण के लिए निम्न उद्धृत है –

“स्त्री: दिलचस्पी तो सिर्फ तीन चीजों में है- दिन-भर ऊँघने में, तस्वीर काटने में और......घर की चीज वह चीज ले जाकर.......

लड़का : (कड़वी नजर से उसे देखता) इसे घर कहती हो तुम ?

स्त्री : तो इसे क्या समझकर रखा है यहाँ ?

लड़का : मैं इसे........।”[27]

नई पीढ़ी की सोच में परिवर्तन सामाजिक ढाँचे के कारण हो रहे हैं। समाज में जो वर्ग है उनके पास सुख-सुविधा के लिए हर चीजें विद्यमान होती है। छोटी लड़की किन्नी की सहेलियों के पास सबकुछ है, लेकिन वे चीजें किन्नी के पास नहीं है। किन्नी यह नहीं समझती कि उसकी माँ कैसे घर चला रही है ? घर की आर्थिक स्थिति किस तरह की है ? उसने एक बार ठान लिया है तो उसे चाहिए। छोटी लड़की और माँ के बीच पीढ़ियों में अंतर होने के कारण हो रहे द्वंद्व के उदाहरण निम्नलिखित है –

“छोटी लड़की: रोज कहती हो, बाद में करना! आज भी मुझे रीलें लाकर न दी तो मैं स्कूल नहीं जाऊँगी कल से। मिस ने सारी क्लास के सामने मुझसे कहा कि ....

स्त्री : तू और तेरी मिस ! रोग लगा रखा है जान को !

छोटी लड़की : तो उठा लो मुझे स्कूल से। जैसे शोकी मारा-मारा फिरता है सारा दिन, मैं भी फिरती रहा करुँगी।”[28]

इस तरह की घटना के माध्यम से पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का द्वंद्व साफ दिखाई पड़ता है। यह द्वंद आधुनिक युग की उपज है। बच्चे यह नहीं देखते कि घर-परिवार वालों के पास पैसे हैं या नहीं। वे एक जिद में अड़ जाते हैं। उन्हें हर एक सुख-सुविधा चाहिए जो अन्य लोगों को मिलती है। वही पुरानी पीढ़ी हमेशा आगे-पीछे दोनों के बारे में सोचती हैं। किस तरह घर चलाना है और कैसे उसमें से भी पैसे बचाना है ताकि कोई तकलीफ हो तो

किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े। मोहन राकेश इस नाटक के माध्यम से वर्तमान समाज में चल रहे नई और पुरानी पीढ़ी के द्वंद को दिखाने का प्रयास किये हैं और वे सफल भी रहे।

3.ख.iii.पारिवारिक संबंधों में विघटन:-

आज मानवीय मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन होता जा रहा है। अपनी सुविधा के लिए आज के मानव विरासत में मिले मूल्यों को व्यक्तिवादी बना दिया, जिससे न तो व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का समाज से, समुदाय से और राष्ट्र से संबंध रह गया है और न पारिवारिक मूल्यों से ही। आज का मानव भौगोलिक इकाई पर भौतिकतावादी संदर्भ को ओढ़ता हुआ समृद्धि को प्राप्त कर लेना चाहता है फिर चाहे उसके लिए उसे अपने परिवार, समाज या राष्ट्र का ही बलिदान क्यों न करना पड़े। बदलते मूल्यों के चक्र में दाम्पत्य संबंध, सामाजिक संबंध और अनेक पारिवारिक संबंध टूट ही नहीं गये बल्कि भौतिकतावादी दौड़ ने उन्हें ध्वस्त कर दिया है। आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक जीवन के प्रचलित मानदंड और यहाँ तक कि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन ला दिया है। औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के फलस्वरूप परिवारों का परम्परागत मूल्य तेजी से टूट रहा है। नवीन आवश्यकताओं में वृद्धि होने से जीवन में पुरानी व्यवस्था अपर्याप्त प्रतीत होने लगी है। आज धनोपार्जन और परिवार की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पति-पत्नी दोनों घर से बाहर काम करने जा रहे हैं। उनका जीवन इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यों पर अपना ध्यान ही नहीं दे पाते। जीवन की व्यस्तता पति-पत्नी के मधुर संबंधों में एक तनाव उत्पन्न करती है। वे अपना आर्थिक विकास में रत रहते हैं और एक ही परिवार में रहते हुए भी एक दूसरे की परिस्थिति का बोध, सहानुभूति का बोध, आत्मीयता का बोध आदि सब धीरे-धीरे समाप्त कर देते हैं। समाज के विभिन्न कारणों ने आज पारिवारिक विघटन में मुख्य भूमिका निभाएँ हैं जिन्हें मशीनीकरण औद्योगिकीकरण तथा विदेशी संस्कृतिकरण का नाम दिया जा सकता है। बहुत ज्यादा बदलाव पारिवारिक संबंधों में ही हुआ है। वर्तमान में संबंधों में विघटन में मूल्यगत परिवेश का विशेष योग है।

मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' में वर्तमान युग के टूटते हुए संबंधों, मध्यवर्गीय परिवार के कलापूर्ण वातावरण, विघटन, संत्रास व्यक्ति के 'आधे-अधूरे' व्यक्तित्व तथा अस्तित्व का यथा-तथ्यात्मक सजीव

चित्रण हुआ है। इस नाटक में परिवार के भीतर का संघर्ष बाह्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ है। स्त्री अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता का उपयोग अपने बाह्य संपर्कों के संबंध में पति की ओर से उठाई गई आपत्तियों की अवहेलना करने के लिए करती है। लेकिन वहीं बाह्य संपर्क उसे कितना हीन बना देता है यह बात सिंहानियाँ और जगमोहन ने साथ उसके संबंधों में स्पष्ट दिखाई देती है। लड़के की नौकरी के लिए सिंहानियाँ को चोरी करनी पड़ती है फिर भी उससे कुछ सफलता हासिल नहीं हो पाता है। परिवार की स्थिति बहुत दयनीय होती है। किसी तरह सावित्रि इस पूरे परिवार को चलाती है। परिवार के सभी सदस्यों में हमेशा ताना-बाना सुनने के बाद वह घर छोड़ने का निश्चय कर लेती है। वह जगमोहन के पास सहारा लेने जाती है लेकिन वहाँ भी प्रयास व्यर्थ होकर रह जाती है। मोहन राकेश ने आज के पुरुषों द्वारा वेबशी का लाभ लेने की स्थिति में परिवार को विखंडित होते हुए देखा है। जिसे निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है -

"पुरुष दो- याद है कुछ बात की थी तुमने एक बार अपनी कजिन के लिए कहा था नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था तुमने किसके लिए कहा था।

स्त्री (लड़के की तरफ देखती) इसके लिए पुरुष दो- हूँ, हूँ क्या पास किया है इसने पुरुष दो... हाँ हाँ क्यों नहीं परे तुम तो, आओगी ही, तुम्ही को बता दूँगा।...तुम आओगी ही घर पर दफ्तर की भी कुछ बाते करनी है।"[29]

इस कृति के हर कोने में तनाव और टकराव उभरकर सामने आता है, आंतरिक उथल-पुथल और बाह्य संघर्ष का क्रम आरंभ से अंत तक एक साथ बना रहता है। परस्पर टकराने वाले पात्र टकराव के विषय और उसके रंग एक के बाद एक बदलते गये हैं। लेकिन उन सब में से होती हुई दाम्पत्य के इंद्र की अंतर्धारा निरंतर प्रवाहित होती रही है जिससे तनाव और टकराव की विविधता के हाथों संघर्ष की सूत्र बद्धता खंडित नहीं हो सकी है। इससे पारिवारिक जीवन की विफलता के संबंध में कुछ सामान्य निष्कर्ष भले ही निकाल लिया जाए, इसके आधार पर एक संस्था के रूप में परिवार को हेय नहीं ठहराया जा सकता। यह तनाव केवल संबंधों की कहानी नहीं विशेष व्यक्तियों और परिस्थितियों की कथा है। 'आधे-अधूरे' नाटक के संदर्भ में संबंधों में आने वाले तनाव और टूटन के कारणों का उल्लेख करते हुए कुछ इस प्रकार की बातें प्रसिद्ध रंगशिल्पी ओम् शिवपुरी ने लिखा है "महेंद्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है। सावित्री भी उसे चाहती रही होगी, लेकिन ब्याह के बाद महेंद्रनाथ को बहुत निकट जानने पर उसे वितृष्णा होने लगी क्योंकि जीवन से सावित्री की अपेक्षाएँ बहुमुखी और अनंत हैं। अब महेंद्रनाथ की

बेकारी बहुत कटु हो गई है। एक ओर घर को चलाने का असह्य बोझ है, तो दूसरी ओर जिंदगी में कुछ भी हासिल न कर पाने की तीखी चोट....स्पष्ट है कि अर्थ और काम ने मिलकर ही आज के व्यक्ति को इतना विकल, इतना कटु और इस सीमा तक विद्रोही बना दिया है कि वह किसी अनजानी पूर्णता के पीछे अंधा-धुंध भाग पड़ने के लिए विवश हो गया है। वह दौड़ भी वह अकेला ही, सब को पीछे छोड़कर यह पछाड़ कर, लगाना चाहता है अतः तनाव और उसके बाद टूटन, पारस्परिक मीलों दूरी अनिवार्य है।

'आधे-अधूरे' नाटक में इन्हीं टूटते संबंधों की कहानी बड़े ही सजीव एवं यथार्थ रंगों-ढंगों में कही गई है। महेंद्र-सावित्री और परिवार एक प्रतीक है, माध्यम है उस सबका जो अनवरत टूटकर बिखर जाना चाहता है। अर्थ और काम-पूर्ति के साधनों के अभाव में आज के मध्य और निम्न मध्य वित्तीय स्थिति वाले घर-परिवारों में, घर के पति-पत्नी में रात-दिन चख-चख या खींचा तानी होती रहती है, उसका सीधा प्रभाव घर के बच्चों के मन-मस्तिष्क पर भी पड़ता है। फलतः वे भी उसी प्रकार की कटाव, तनाव और बिखराव लाने वाले प्रवृत्तियों के शिकार और आदि हो जाते हैं।

घर की त्रासदायक 'हवा' से वे सब अपनी और एक दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं। बड़ी लड़की मनोज रूपी हमदर्द द्वार को पाते ही बाहर निकल भागी है। 'लड़का' पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की रंगीन तस्वीरें काटता हुआ उस मौके के इंतजार में हैं, जब वह भी यहाँ से निकल सकेगा। वह बड़ी बहन के प्रेम में विश्वास नहीं करता उसे घर से निकलने का एक जरिया मानता है। छोटी लड़की, पिता, माता, बहन-भाई किसी के प्रति महसूस नहीं करती। अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं की आपूर्ति से बेहद कड़वी होकर वह कैची की तरह जुबान चलाती है और यौन संबंधों में दिलचस्पी लेने लगती है कि जो उसकी आयु से कहीं आगे हैं। उसकी बदमिजाजी दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है, क्योंकि पिता की बेकारी, माँ के पुरुष-मित्रों और बड़ी बहन के घर से भाग जाने के कारण उसे बाहरी लोगों की ताना सुननी पड़ती है। संबंधों में आने वाले तनाव, कटाव, टूटन और विखराव के मूल में विद्यमान है।

इस नाटक में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत ज्यादा प्रखर हुई है। इस परिवार में अर्थ केवल-सावित्री ही कमाती है। उसीके पैसे से घर के बाकी लोगों की जीवन यापन होती है। सावित्री के पति यानि महेंद्रनाथ निठला

घूमता रहता है। हमेशा कर्ज की आड़ में इधर-उधर भटकता रहता है। पुरुष एक अपने दोस्त जुनेजा से पैसे लिया रहता है। और अपनी पत्नी से कहता है कि –

"पुरुष एक- फिलहाल उसे देने के लिए पैसे नहीं है, तो कम-से-कम मुँह तो उसे दिखाते रहना चाहिए।

स्त्री - हाँss दिखा आओ ,मुँह जाकर।"[30]

घर के हर सदस्य एक दूसरे से कटा-कटा रहते हैं। जैसे लगता है किसी को एक दूसरे से कोई मतलब नहीं है। हर एक पात्र एक दूसरे पर जली-खटी बातें सुनाते ही रहते हैं। जिस घर की कहानी इस नाटक में कहीं गई है, उसमें ऊब, घुटन और मानसिक खिंचाव ही नहीं बर्बरता और निशंस्ता का पूर्ण दृश्य भी देखने में आते हैं। बड़ी लड़की पुरुष चार को सब बातें बता देती है। नाटक का त्रासद प्रभाव इस वास्तविकता में निहित है कि उस परिवार में जीना कठिन है। उससे मुक्ति का कोई भी उपाय नहीं है। स्त्री-पुरुष के संबंध को ठीक करने का भी कोई उपाय नहीं है। स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंध घर को बर्बाद कर देता है। एक अपनी प्रकृति से विवश होकर लौटता है तो दूसरा इसलिए कि परिस्थिति उसका साथ नहीं देती है। कारण जो भी हो, दोनों उसी नरक में जीने के लिए विवश है। बल्कि अभिशप्त है। जिसे घर कहा जाता है।

चार अलग-अलग पुरुषों से भरे पूरे इस परिवार के संवाद भीतर और बाहर के बहुरंगी संघर्ष के ताने बाने हैं, जिसमें आंतरिक उथल-पुथल, पति-पत्नी, माँ-पुत्र, बाप-बेटी, भाई-बहन और माँ पुत्रों के स्तर पर देखे जा सकते हैं। इन पात्रों के भीतर अनयादित कुछ घुमड़ता रहता है जिसमें परिवार की शालीनता और मर्यादा समाप्त हो जाती है तथा समस्याओं का उदभावन होता है।

आज मनुष्य भौतिक सुविधाओं को ही सब कुछ मान बैठा है और उन्हीं के पीछे दौड़ता जा रहा है। उनके दायरे में, अपनी इच्छाओं और आर्थिक दबावों के कारण जहाँ वह अपने-आप को फिट नहीं कर पाता, वहीं वह भाग जाना चाहता है। भागकर वह अपनी ही किसी अन्य पड़ाव की ओर भागता है- फिर भागता है और इस प्रकार वह संबंधों से कहीं दूर-दूर पहुँचकर अपने-आपको नितांत अकेला अनुभव करने लगता है। 'आधे-अधूरे' के परिप्रेक्ष्य में इन्हीं तथ्यों को किरनचंद शर्मा ने अपने लेख 'एक प्रश्न : दो रूप' में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :- "समझौता न

कर सकने की थकान कह सकते हैं, क्योंकि सुविधा का एक रूप प्रत्येक पात्र के पास है, कम से कम उस समय तक के लिए है ही, जब तक वह सुविधा के उस रूप की प्राप्ति-अनुभव नहीं कर लेता। और इसलिए उस रूप को ही वह अपने परिवेश में भी 'मिसफिट' पा रहा है। यही कारण है कि उस परिवेश में जितने भी नये ढाँचे उसे दिखाई देते हैं, वह उनमें से प्रत्येक में उसे फिट करके देखता हुआ चलता है और जब हर जगह 'मिसफिट' पाता है तब एक ऊब, एक उलझन का मात्र वितान तनकर रह जाता है।और फिर वह वितान-तनता इस सीमा तक या कस जाया करता है कि उसका अपने ही एक हिस्से से अलग हो जाना प्रायः अनिवार्य हो जाया करता है।"[31] इसको हम मानव-मूल्यों में परिवर्तनों के कारण, संबंधों का अलगाव, तनाव के बाद में टूटन और बिखराव कह सकते हैं। इस सब का निश्चय ही 'आधे-अधूरे' नाटक में बड़ा ही सशक्त रूपायन एवं सजीव चित्रण हुआ है। संबंधों के टूटने की इसी वैयक्तिक समस्या को एक परिवार के माध्यम से नाटककार ने समाजीकरण करके हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

3.ख.iv.स्त्री-पुरुष संबंध:-

जीवन के नये परिवर्तनशील मूल्यों ने पुराने व्यक्ति-संबंधों या पारिवारिक मान्यताओं, व्यवस्थाओं को अस्त-व्यस्त तो किया ही है और इसके साथ अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों से भी भर दिया है। आज का जीवन सामूहिकता की परम्परागत परिस्थितियों से पिछड़कर व्यक्ति और उसके अंह पर आकर केंद्रित होकर रह गया है। व्यक्ति पर केंद्रित, व्यक्तिगत परिवर्तन-चक्र को परिचालित कर रही है। आज स्त्री और पुरुष परस्पर सहयोगी सहकारी न रहकर दो अलग केंद्र ,दो अलग छोर-उत्तरी और दक्षिणी धुव्र बनकर रह गये हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक में महेंद्रनाथ और सावित्री इसी प्रकार के दो अलग केंद्र, छोर और धुव्र के रूप में चित्रित किए गए हैं, जिनमें कहीं भी किसी प्रकार का (गुरुत्व) आकर्षण नहीं रह गया है। दोनों की ऋतुएँ अलग हैं और हवाएँ भी अलग-अलग बहने लगी हैं, फिर आंतरिक लगाव कैसे ? फिर बाहरी लगाव(दिखावा मात्र) भी क्यों रह जाना चाहिए। तभी तो ध्रुव-पुरुष-महेंद्रनाथ जुनेजा का छोर चुन लेता है और दूसरा ध्रुव-स्त्री-सावित्री फिर जगमोहन के छोर की ओर बढ़ जाना चाहता है। जीवन, घर-परिवार और समाज के भी दो अटल ध्रुव हैं, पर वे एक-दूसरे से दूर-ही-दूर हटते जा रहे हैं। उनकी पारस्परिक चेतना, मूलतः संबंधों की चेतना इस सीमा तक संशयग्रस्त हो चुकी है कि उसके कारण चारों ओर विसंगतियाँ ही विसंगतियाँ उभर कर आ रही है। वे विसंगतियाँ अपने संपर्क में आने वाले अशोक-बिन्नियाँ-किन्नियाँ

से अस्वभाविक होकर कोई न कोई तात्कालिक सुविधा-जनक बहाना खोज कर, घुट-घुट कर पलायन कर जाना चाहती है। यही आज के संबंधों की नियति है। यही आधुनिक युग का समग्र बोध और उसका सार-तत्व है।

इस नाटक में आधुनिक जीवन मूल्य स्त्री-पुरुष के संबंधों पर बुने गये हैं। यह नाटक आज के शहरी क्षेत्र के मध्यवर्गीय पारिवारिक जिंदगी की विसंगति को उभारता है। विभिन्न पात्रों के क्रिया-व्यापार के संबंध में निर्देश देते समय मोहन राकेश ने उनके चरित्र को ध्यान में रखा है। स्त्री अपने भीतर तनाव के बावजूद बाहर से काफी संयत और सधी हुई है। जबकि पुरुष एक बिल्कुल टूट चूका है। इसलिए पुरुष एक ही चेष्टा में अस्तव्यस्त दिखलायी देता है। जब वह फायलों में व्यस्त होने का बहाना करता है तो फायलें आलमारी से बाहर गिर जाती है। जब वह सोफे पर बैठकर अखबार पढ़ने का अभिनय करता है तो अखबार उल्टा पकड़े हुए दिखलाई देता है, छोटी लड़की के लिए टोस्ट सेंककर लाता है, वे जले हुए होते हैं। इसके विपरीत स्त्री कुछ ही स्थलों पर वह औपचारिक व्यवहार की चेतना से मुक्त और टूटी हुई दिखलाई देती है। पुरुष एक के समान उसका टूटना अस्तव्यस्तता के रूप में नहीं भावावेश के रूप में व्यक्त होता है इसलिए जहाँ ऊपर से सहज स्वभाव के भीतर से टूटन झलकती है। वहाँ उसके शब्द और क्रिया-व्यापार एक-दूसरे से गुंथ जाते हैं। पुरुष दो, लड़का और स्त्री के बीच का यह संवाद निम्नलिखित है –

"लड़का – खान-पान और पहिनावे की विविधता अमेरिकन, जर्मन, रुसी....शीत युद्ध हड़ताल, वस्त्र, उद्योग.....डी.ए.।

पुरुष दो – बहुत अच्छी स्मरण शक्ति है लड़के की तो कहने का मतलब था.....

स्त्री – थोड़ा और लीजिए.......

पुरुष दो – जरूर .....किसके लिए क्या करना है

स्त्री – (लड़के की तरफ देखकर) इसके लिए कुछ न कुछ !

पुरुष दो – हाँ-हाँ जरूर।"[32]

इस प्रकार इस घर के जीवन में नैराश्य और अवसाद की छाया घिरी हुई है। पुरुष दो की उक्तियों में उसका लिजलिजा चरित्र अपनी पूरी हास्यास्पदता के साथ व्यक्त हुआ है। स्त्री जितनी चतुराई में विगत संबंधों की आड़ लेकर आत्मीयता के अभिनय का जाल उस पर डालना चाहती है वह भी उतनी ही बारीकी से उसका काट करता है। मोहन राकेश ने निराशा और अवसाद की छाया से ग्रसित इस परिवार को घिरा देखा है। सावित्री का अधूरापन कुछ उसके व्यक्तित्व और कुछ परिस्थितियों का परिणाम है। उसका व्यक्तित्व व्यक्तिगत आक्रामक नारी का है। दूसरी ओर महेंद्रनाथ दब्बू किस्म का आदमी है। आक्रामक नारी जब प्रतिस्पर्धा करती है तो पुरुष की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं कर पाती। और जब वह उसे प्रतिस्पर्धा से अयोग्य पाती है तो भावात्मक सुरक्षा के लिए पूरे आदमी की तलाश उसके लिए आवश्यक हो जाती है। वस्तुतः सावित्री के मन का आक्रोश इसलिए भी अधिक है क्योंकि उसमें एक दूसरे के गुंथ जाने का सामंजस्य भाव नहीं है। इसीलिए यह पूरा का पूरा नाटक एक स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच का लगाव और तनाव का दस्तावेज है तो दूसरे स्तर पर यह पारिवारिक विघटन की गाथा है। इस कुटुंब का हर सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक हवा से वे अपने और एक दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं। यह नाटक व्यक्तियों की विभिन्नता के बावजूद निराशा और पीड़ा के स्वर मुखर करता है। पुरुष एक और स्त्री का यह संवाद –

“स्त्री – (पाजामें को फाड़कर फिर से तहाती है) अब क्या दे दूँ! पहले खुद भी तो देख सकते थे।(गुस्से में कबर्ड खोलकर) पाजामें को जैसे उसमें कैद कर देती है। पुरुष एक फालतू सा इधर-उधर देखता है। फिर एक कुर्सी की पीठ पर हाथ रख लेता है।

स्त्री – (कवर्ड के पास आकर ट्रे उठती है) चाय किस-किस ने पी थी ?

पुरुष एक – (अपराधी स्वर में) अकेले मैंने।”[33]

वस्तुतः यह परिवार मध्य वित्तीय मानसिकता का शिकार है जिसके चारों ओर से उस पर अवसाद की छाया मंडराई रहती है। सावित्री और पुरुष एक का अधूरापन उनके व्यक्तित्व और परिस्थितियों का परिणाम है। इसीलिए सावित्री की तलाश मानव के संपूर्ण अस्तित्व की तलाश नहीं कही जा सकती है। क्योंकि उसमें तलाश के लिए न जिज्ञासा है और न बौद्धिक आत्मबल। वह केवल एक असंतुष्ट दृष्टि और अप्रयाप्त संवेग को लेकर वह

महेंद्रनाथ तथा अपने संपर्क में आये अन्य पुरुषों के अधूरेपन का आरोप लगाती है। वह सिंहानियाँ, जगमोहन या जुनेजा नहीं है और इन सबकों वह इसलिए घृणा करती है कि शायद वे महेंद्रनाथ नहीं हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी निजता को त्यागकर दूसरा व्यक्ति नहीं बना सकता। महेंद्रनाथ जैसा भी है अपने को महेन्द्रनाथ बनाए रखता है। सावित्री का उसे अपनी निजता में न जीने देना उसे पंगु बना देता है और स्वयं उसके जीवन में बाहरी लोग उतने प्रमुख हो जाते हैं कि उसके बिना वह अपने अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाती। इस प्रकार नाटक का मूल रूप व्यक्ति के बौनेपन से ओत-प्रोत हैं। पुरुष एक और सावित्री के बीच संवाद को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि दोनों के बीच के संबंध किस प्रकार के हैं -

"पुरुष एक – मैं बस थोड़ी देर के लिए निकला था लहर।

स्त्री – (और चीजों को समेटने में व्यस्त) मुझे क्या पता कितने देर के लिए निकले थे वह आज फिर आएगा, अभी थोड़ी देर में तब तो घर पर रहोगे तुम।

पुरुष एक – (हाथ रोककर) कौन आयेगा ? सिंहानियाँ ?

स्त्री – उसे किसी के यहाँ खाने जाना है, इधर पाँच मिनट के लिए यहाँ आएगा।"[34]

सिंहानियाँ का अधूरापन और महेंद्रनाथ की उसके प्रति सोच पारंपारिक व्यक्तित्व के बौनेपन की सोच है। सावित्री एक के बाद एक पुरुषों को आजमाती है और सबको आधा-अधूरा करार देती है। यह नाटक स्त्री-पुरुष के संबंधों, अमानवीय स्थितियों और पारिवारिक विघटन का दस्तावेज़ बन गया है। नाटक का प्रमुख पात्र महेंद्रनाथ पुरुष एक है। वह अपनी स्थिति का अनुभव करते हुए भी उभर नहीं पाता, यहाँ तक कि वह स्वयं की दृष्टि में भी गिर चुका है। दूसरी तरफ उसकी पत्नी सावित्री बेकार पति से ऊबी हुई स्त्री है जो टूटते बिखरते परिवार से ऊब कर किसी अन्य पुरुष से जुड़ने की ललक मन में धारण किए हुए हैं। वह जुनेजा, जगमोहन, मनोज और सिंहानियाँ जैसे भ्रष्ट लोगों से जुड़कर एक पूर्ण पुरुष की तलाश कर रही है। लेकिन फिर भी उसे अलग-अलग मुखौटों पर बौने चेहरे ही नजर आते हैं।

सावित्री हर पुरुष से टकराकर अपने में टूटती है फिर भी तलाश के भटकावे में अपने बेटे-बेटी और यहाँ तक कि अपने पति से ऊब कर अपने पुराने प्रेमी जगमोहन से हमेशा के लिए जुड़ने का असफल प्रयास करती है। सावित्री अपनी असफलता के कारण ही चीखती-चिल्लाती है और सबसे अलग होना चाहती है, लेकिन पुनः उसकी वापसी बेकार पुरुष महेंद्रनाथ के घर ही होती है। महेंद्रनाथ, सावित्री, बिन्नी, अशोक और किन्नी आदि आधुनिक मध्यवर्गीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी एक दूसरे से मिलकर जुड़े रहने के लिए बाध्य है। यह उनके स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्वेषण की एक कड़ी होते हुए भी यहाँ वह एक तरह की स्वीकृति पर पहुँच गए हैं। स्त्री और पुरुष के बीच परस्पर अनुकूलता नहीं है, और उनके संबंधों में एक बुनियादी संघर्ष सदा बना रहता है। मगर फिर भी इस संघर्ष को समझना और इसके साथ-साथ रहना भी पड़ता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष पूरी तरह कभी अलग भी नहीं हो सकते। इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबंध में बिखराव आर्थिक कारणों से प्रखर है।

3.ख.v.स्त्री की त्रासदी:-

जीवन में सुख एवं दुःख दोनों ही अनिवार्य है। सुख के समय अधिक ख़ुशी एवं दुःख के क्षण में अधिक दुःखी नहीं होना चाहिए। दुःख के समय हमें घबराना नहीं बल्कि उसका सामना करने की कोशिश करनी चाहिए। आधुनिक काल में स्त्री अपनी अस्तित्व की पहचान बनाने के लिए संघर्षरत हो रही है। वह जीवन के तमाम विसंगतियों को पार करते हुए आगे बढ़ रही है। घर-परिवार की स्थिति उज्ज्वल बनाने के लिए दूसरो के पास चिरौरी भी करती है। जिस कारण से समाज एवं अन्य लोगों को लगता है कि स्त्री अपनी अस्तित्व को ही मिटा रही है। वह कही भी अपने को संतुष्ट नहीं पाती है। जीवन के हर क्षेत्र में कहीं न कहीं अपने-आप को पिछड़ा हुआ पाती है। 'आधे-अधूरे' नाटक में स्थिति त्रासदी के घेरे में घिरा हुआ है। नाटक के केंद्र में दो ही बातें मुख्य है : पहली-पुरुष एक की पीड़ा और दूसरी नारी मुक्ति की भावना। घर है लेकिन उसमें बिखराव और दर्द ज्यादा है। इस नाटक के प्रमुख पात्र सावित्री की स्थिति इस तरह हो गई है कि भीतर सुलगते हुए भी वह परिस्थिति और सामने वाले व्यक्ति को ध्यान में रखकर बात करती हैं। इसीलिए पुरुष दो के आत्मप्रदर्शन और छिछला रसिकता के बीच निरंतर अपने काम की बात पर आने की चेष्टा करती है और ऐसा करते हुए अत्यंत शालीन बनी रहती है। पुरुष एक से बात करते समय वह जिस दर्दपूर्ण स्वर से बोलती है वह पुरुष दो के सामने बोलते समय सर्वथा लुप्त हो जाता है। पुरुष तीन से बात करते समय वह अपनी पारिवारिक कटुता जहाँ छोड़कर अपने शब्दों में शहद उड़ेलने लगती है। पुरुष

तीन का सहारा पाने के लिए वह विगत प्रणय संबंधों के बल पर आत्मीयता के अधिकार का उपयोग पूरी शक्ति से करती हैं। इस अधिकार के प्रदर्शन के लिए वह पुरुष तीन को डांटती भी है और पुरुष चार के साथ बात करती हुई वह पुरुष एक की बुराई ही करती रहती है जिसका जवाब पुरुष चार देता रहता है।

"पुरुष चार....इसीलिए कि वह अपने को बिल्कुल बेसहारा समझता है। उसके मन में विश्वास बिठा दिया है तुमने कि सब कुछ होने पर भी उसके लिए जिंदगी में तुम्हारे सिवाय कोई चारा कोई उपाय नहीं हैं।

"स्त्री – क्यों-क्यों-क्यों आप और-और बात करके लाना चाहते हो। अभी आप जाइए और कोशिश करके उसे हमेशा के लिए अपने पास रख लीजिए।"[35]

पुरुष चार जब बड़ी लड़की से उसके पिता के बारे में कहता है कि तुम्हारे पिता दिल के बुरे नहीं है। वह तो कुछ परिस्थितियों ने उन्हें बुरा बना दिया है तब बड़ी लड़की कहती है कि –

"इतने साधारण ढंग से उड़ा देने की बात नहीं है, अंकल ! मैं यही थी, मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं बल्कि चिड़ियाँ घर में हूँ। कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने। दिन-रात पिताजी की मार-पीट सहने के बावजूद माँ इस घर को संभाले हुए है।"[36]

इस नाटक में तीनों स्त्री पात्रों की स्थिति दयनीय है। बड़ी लड़की बिन्नी का विवाह अपने माँ के आशिक के साथ हो जाता है। बड़ी लड़की बिन्नी इन सभी बातों से अनजान रहती है। जिस व्यक्ति के साथ उसका विवाह हो जाता है, जिसके साथ जीवन यापन करती है वह व्यक्ति उसे ये सच्चाई छुपाया रहता है। बिन्नी की माँ भी अपने बेटी के जीवन को नरक बनाने में तुली हुई है। छोटी लड़की किन्नी हमेशा छोटी-छोटी चीजों के लिए अपने माँ एवं दीदी से लड़ाई करती है। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से महानगर में व्यवस्थित मध्यवर्गीय परिवार में नारी की स्थिति को देखने का प्रयास किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में भी मल्लिलका की त्रासदी दिखाई देती है। मल्लिका कालिदास से प्रेम करती है, लेकिन उसकी ख़ुशी के लिए उससे दूर रहती है। मल्लिका का चित्रण एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर, विचारशील, आधुनिक और निर्णायक नारी के रूप में हुआ है। मल्लिका इस नाटक में स्वयं कहती है कि "मैंने भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बड़ा है। मैं

वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।"[37] कालिदास से इतना चाहते हुए भी अपने आप को कालिदास और उनकी उपलब्धियों के बीच में नहीं आने दिया।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नारी की त्रासदी 'आधे-अधूरे' नाटक में दिखायी देती है। इस नाटक के प्रत्येक नारी पात्र अपनी जीवन खुल के नहीं जी पा रही है। सावित्री, किन्नी और बिन्नी तीनों की जीवन विसंगतियों से भरा हुआ है। ये तीनों नारी पात्र तकलीफ में होते हुए भी जीवन-यापन के लिए तत्पर है। जीवन की तमाम विसंगतियों को काटते हुए आगे बढ़ने की कोशिश करती है।

3. ख.vi. आगे बढ़ने की लालसा:-

आगे बढ़ने की लालसा हर मनुष्य में होती है। वह हमेशा आगे बढ़ने की कोशिश में लगा रहता है। मध्यवर्गीय परिवार में यह भावना सबसे अधिक दिखाई देती है। मध्यवर्ग की आकांक्षायें कभी पूर्ण नहीं हो पाती है, वह निम्न वर्ग एवं उच्चवर्ग के बीच में पिसता हुआ नजर आता है।

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक में भी सभी पात्र आगे बढ़ने के लिए तमाम प्रयास करते हैं, मोहन राकेश ने उनके इस भाव को दिखाने का प्रयास इस नाटक में किया है। इस नाटक में प्रमुख पाँच पात्र हैं। सभी पात्रों में हमेशा आगे बढ़ने की लालसा होती है और यही लालसा उन्हें परिवार के संबंधों में विघटन पैदा करता है। महेंद्रनाथ व्यवसाय के लिए अपने दोस्त से पैसा कर्ज लेता है, लेकिन अंत तक कर्ज नहीं चुका पाता है और निराश होकर महेंद्रनाथ यानी पुरुष एक स्त्री से कहता है कि :-

पुरुष एक :- फिलहाल उसे देने के लिए पैसा नहीं है, तो कम-से-कम मुँह तो उसे दिखाते रहना चाहिए।

पत्नी : हाँSS दिखा आओ मुँह जाकर।"[38]

वह आगे बढ़ने के लिए कर्ज लेता है लेकिन कर्ज चुकता नहीं कर पाता। जिसके कारण उसे हमेशा ताना सुनना पड़ता है। इस नाटक की प्रमुख पात्र सावित्री आगे बढ़ने के लिए अपने बॉस को भी चिरौरी करती है। ताकि

बॉस उसके बेटे को छोटी-मोटी नौकरी दे दे। जिसके कारण घर की स्थिति में थोड़ा सुधार हो। सावित्री बॉस से कहती है –

“स्त्री- याद है न आपको?

पुरुष दो – याद है। कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपनी किसी कजिन के लिए कहा था...नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिए कहा था ?

स्त्री – (लड़के की तरफ देखती) इसके लिए।”[39]

सावित्री हमेशा जिसके भी संपर्क में आती है उसे अपने परिवार की स्थिति को बयान करती है। ताकि किसी तरह उसके बेटे को कोई नौकरी मिल सके। घर की आर्थिक स्थिति में सुधार हो। इसीलिए वह अपने कलिग को घर पर बुलाकर अच्छा व्यवहार करने की कोशिश करती है। लेकिन यह प्रयास भी उसका बेकार ही जाता है। लड़का अपनी माँ से कहता हैं –

“लड़का – उसकी किसी ‘बड़ी’ चीज की वजह से। एक कि वह इंटेलेक्चुअल बहुत बड़ा है। दूसरे को कि उसकी तनख्वाह पाँच हजार है। तीसरे कि उसकी तख्ती चीफ कमिश्नर की है। जब भी बुलाया है, आदमी को नहीं- उसकी तनख्वाह को, नाम को, रुतबे को बुलाया है।

स्त्री - तू कहना क्या चाहता है इससे कि ऐसे लोगों के आने से इस घर के लोग छोटे हो जाते हैं ?

लड़का – बहुत-बहुत छोटे हो जाते हैं।”[40]

इस प्रकार यह देख सकते हैं कि इस नाटक में महानगर के मध्यवर्गीय परिवार आगे बढ़ने के लिए किस तरह से बैचेन हैं और उनकी इस लालसा ने पूरे परिवार में विघटन की स्थिति पैदा की है।

3.ख. vii.असंतोष की भावना:-

मानव हमेशा किसी न किसी कारणवश असंतोष की भावना से घिरा रहता है। वर्तमान समाज में यह भावना का स्तर अधिक दिखाई देती है। असंतोष में घिरा हुआ व्यक्ति कभी संतुष्ट नहीं हो पाता है और संतुष्टि की तलाश में वह हमेशा इधर-उधर भटकता रहता है। सबसे अधिक असंतोष की भावना हमें मध्यवर्गीय परिवार में दिखाई देती है। यही असंतोष की भावना के कारण पारिवारिक संबंधों में विघटन, तनाव आदि दिखाई देता है।

'आधे—अधूरे' नाटक महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार की गाथा है। इस नाटक में सभी पात्रों में असंतोष की भावना हमें दिखाई देती है। परिवार का हर सदस्य आर्थिक सामाजिक दृष्टि से संतोष नहीं है। इस परिवार में अर्थ की प्राप्ति से बाकी लोगों की आकाक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है, वह निराश होकर बड़ी लड़की से कहती है –

"स्त्री – कैसी बात कर रही हूँ? यहाँ पर सबलोग समझते क्या है मुझे ? एक मशीन, जो कि सबके लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती हैं। मगर किसी के मन में जरा सा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं...।"[41]

इस नाटक में एक ओर सावित्री अपने घर परिवार को चलाने के लिए पैसे कमाती है ताकि आगे चलकर परिवार के लोग ख़ुशी-शान्ति से जीवन यापन करें। वहीं बड़ी लड़की वैवाहिक जीवन से संतोष नहीं है। वह अपनी माँ सावित्री से कहती है _

"बड़ी लड़की – शादी से पहले लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ। पर अब आकर लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।

स्त्री – (बात की गहराई तक जाने की तरह) हूँ !....तो क्या उसके चरित्र में कुछ ऐसा है जो....?

बड़ी लड़की – यही तो मैं भी नहीं समझ पाती। पता नहीं कहाँ पर क्या है जो गलत है।"[42]

इस नाटक में पति-पत्नी के बीच भी असंतोष की भावना दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि दोनों इस बंधन में जबरदस्ती बंधें हैं। पति-पत्नी के बीच में आपसी मेल-मिलाव दिखाई नहीं देता है। हमेशा दोनों के बीच तकरार ही दिखाई देता है। यही तकरार रिश्तों में दरार पैदा करती है।

इस नाटक में महेंद्रनाथ यानी प्रथम पुरुष भी संतुष्ट नहीं है। प्रथम पुरुष से बाकी सभी पात्र उचित व्यवहार नहीं करते। कोई भी कुछ भी सुना कर चला जाता है। उसकी इज्जत कोई भी नहीं करता है। प्रथम पुरुष से उसके लड़का-लड़की भी तू-तू-मैं-मैं करते रहते हैं –

"प्रथम पुरुष- कितने साल हो चुके हैं मुझे जिंदगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बाटे हैं मेरे परिवार की देख-रेख करते हैं ? और उस सबसे बाद मैं आज पहुँचा कहाँ हूँ ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है ? जिसे देखो मुझसे बदतमीजी से पेश आता है ?

लड़का – (अपनी सफाई देने की कोशिश में) मैंने तो सिर्फ इसीलिए कहा था, डैडी, कि....।"[43]

इस नाटक में प्रथम पुरुष की स्थिति बहुत दयनीय दिखायी गयी है। उसे हमेशा किसी न किसी कारण से बेइज्जती किया जाता है। वह अंदर ही अंदर अपने आप को कमजोर एवं असहाय समझता रहता है। पुरुष एक एवं स्त्री के बीच यह वार्तालाप देख हम समझ सकते हैं कि पुरुष एक की स्थिति कैसी है ?

पुरुष एक – अपनी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ । इन सबकी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अंदर से मैं आराम-तलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।

स्त्री – मैं नहीं जानती, तुम सचमुच ऐसा महसूस करते हो या....।"[44]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि असंतोष की भावना सभी पात्रों में विद्यमान है। यह भावना हमें पारिवारिक संबंधों, वैवाहिक जीवन आदि में दिखाई पड़ती है।

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक मध्यवर्गीय समाज पर आधारित नाटक है। मध्यवर्गीय परिवार में आगे बढ़ने की लालसा एवं दिखावापन के कारण किस तरह कटता जा रहा है इसका ज्वलन उदाहरण यह नाटक है। इस नाटक के सभी पात्र अपने-आप को आधा-अधूरा ही समझते हैं और इसी पूर्णता की तलाश के कारण रिश्तों में दरार, परिवारिक विघटन आदि दिखाई देता है। मोहन राकेश इस नाटक के माध्यम से संपूर्ण मध्यवर्गीय परिवार की विडम्बना को दिखाने की कोशिश की है।

संदर्भ

1. आधुनिक हिंदी कहानी साहित्य में काम मूलक संवेदना, श्री रामबा महाजन, पृ. सं.- 103
2. अग्नि सागर, संवेदना पक्ष, डॉ. वीरेंद्र भारद्वाज, पृ. सं.- 41
3. हिंदी की महिला उपन्यासों की मानवीय संवेदना, डॉ. उषा यादव, पृ. सं.-99
4. हिंदी संस्कृत कोश, डॉ. रामस्वरूप ऋषिकेश, पृ. सं.- 581
5. मानवीय की पारिभाषिक कोष : साहित्य खंड, डॉ. श्री राय, पृ. सं. – 232
6. आधुनिक साहित्य कोश, डॉ. चन्द्रकांत टोपीवाल, पृ. सं.- 85
7. नालंदा विशाल शब्दसागर, श्री नवलजी, पृ. सं.- 1325
8. भगवदमंडल (गुजराती), सं. भगवत सिंह, पृ. सं.- 862
9. अग्निसार संवेदनापक्ष, डॉ. धीरेंद्र भारद्वाज, पृ. सं.- 43
10. मानविकी परिभाषा कोश : साहित्य खंड, श्री राय, पृ. सं.- 232
11. हिंदी साहित्य कोश भाग – 1, धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य, पृ. सं.- 863
12. हिंदी कहानी का एक अंतरंग पहचान, डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. सं.- 221

13. उपन्यासकार जगदीशचंद्र : संवेदना और शिल्प, डॉ. कैलाशनाथ पाण्डेय, पृ. सं.- 10

14. कला का जोखिम, निर्मल वर्मा, पृ. सं.- 47

15. कथाबिंब, हिमांशु जोशी, पृ. सं.- 35

16. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. सं.-691-692

17. अग्निसार ! संवेदना पक्ष, डॉ. वीरेंद्र भारद्वाज, पृ. सं.- 41

18. दिनमान साहित्य सिद्धांत और समालोचना, डॉ. देवीप्रसाद गुप्त, पृ. सं.- 221

19. निर्मल के उपन्यास, डॉ. ज्योति शर्मा, पृ. सं.- 88

20. निर्मल वर्मा और सुरेखा ज्योति का साहित्य, डॉ. रेखा शर्मा, पृ. सं.- 70

21. हिंदी की महिला उपन्यासों की मानवीय संवेदन, डॉ. उषा यादव, पृ. सं.- 22

22. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : चुने हुए निबंध, मुकुंद द्विवेदी, पृ. सं.- 95

23. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 30

24. वही, पृ. सं.- 74

25. वही, पृ. सं.- 91-92

26. वही, पृ. सं.- 32-33

27. वही, पृ. सं.- 47

28. वही, पृ. सं.- 37

29. वही, पृ. सं.- 53

30. वही, पृ. सं.- 21

31. एक प्रश्न : दो रूप, किनरचंद्र शर्मा, पृ.सं.- 26

32. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 52-53

33. वही, पृ. सं.- 20-21

34. वही, पृ. सं.- 53

35. वही, पृ. सं.-

36. वही, पृ. सं.- 98

37. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, नेमिचंद्र जैन, पृ. सं.- 33

38. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 21

39. वही, पृ. सं.- 51

40. वही, पृ. सं.- 68

41. वही, पृ. सं.- 48

42. वही, पृ. सं.- 31

43. वही, पृ. सं.- 43

44. वही, पृ. सं.- 44

चतुर्थ अध्याय

शिल्प वैशिष्ट और 'आधे-अधूरे'

4.क. भाषा शैली:-

भाषा भावों और विचारों की वाहिनी है। किसी भी रचनाकार को अपने संवेदनात्मक लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए भाषा एवं संवादों का सहारा लेना पड़ता है। नाटककार मोहन राकेश भाषा के प्रयोग और महत्त्व को लेकर बहुत सजग थे। 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा अत्यंत सरल व आम बोलचाल की भाषा है तथा साहित्यिक भी। भाषा के रूप में उनके इस नाटक से दर्शक किसी प्रकार की दुरुहता का अनुभव नहीं करता। नाटक न तो यहाँ दार्शनिक गहराइयों के कारण किसी विशेष प्रकार के शब्दों के जाल में उलझकर रह गया है और न ही उन्होंने विशिष्ट परावैज्ञानिक या वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग ही किया है। इसी कारण 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा अधिक स्थिर एवं प्रभावी है।

नाटककार मोहन राकेश यथार्थवादी रचनाकार हैं। इसलिए उनकी भाषा-शैली भी यथार्थपरक है। मोहन राकेश की भाषा में व्यंग्यात्मकता, पात्रानुकूलता, प्रसंगानुकूलता, हास्यपूर्ण प्रसंग, व्यंग्य-प्रधान संवाद और कटुतापूर्ण परिवेश की अभिव्यक्ति देने वाली हरकत की भाषा इस नाटक को गहन अर्थवत्ता प्रदान करती है। 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं –

i. सहजता, सरलता एवं रोचकता

ii. भावानुकूल एवं प्रवाहमयता

iii. पात्रानुकूल भाषा

iv. ध्वन्यात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता

v. विभिन्न भाषाओं के शब्दों एवं मुहावरों में सार्थकता

vi. यर्थाथवादी शैली एवं सपाट बयानी

इस नाटक की भाषा में सहजता, सरलता एवं रोचकता के गुण पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा का सर्वाधिक प्रमुख गुण यह है कि हिंदी भाषी मध्य एवं निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसी प्रकार की भाषा यहाँ प्रयुक्त की गई है। नाटक का विषय एक टूटते मध्यवर्गीय परिवार से है, अतः उसी की भाषा यहाँ प्रयुक्त करने की दिशा में नाटककार निश्चय ही आद्यंत विशेष सजग रहे हैं। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें सजगता और जागरूकता तो है, पर प्रयत्न-साध्यता कहीं भी नहीं है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि कोई पात्र उधार लिया हुआ है अथवा कृत्रिम एवं वर्ग से बाहर की भाषा बोल रहा है। इन पंक्तियों से स्पष्ट दिखाई देता है –

"स्त्री: (तंग पड़कर) तो तुम खुद ही क्यों नहीं पूछ लेते उससे जो पूछना चाहते हो?

पुरुष एक : मैं कैसे पूछ सकता हूँ ?

स्त्री : क्यों नहीं पूछ सकते ?

पुरुष एक : मेरा पूछना इसीलिए गलत है कि.....

स्त्री : तुम्हारा कुछ भी करना किसी न किसी वजह से गलत होता है। मुझे पता नहीं हैं ?"[1]

मोहन राकेश सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। जो मध्यवर्ग एवं निम्नमध्यवर्गीय हिंदी भाषी परिवारों में अपने रोजमर्रा के व्यवहार में बोली जाती है। साधारण, सरल और बोलचाल की, फिर भी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण में सक्षम। 'आधे-अधूरे' नाटक में भाषा के स्वभाविक स्वरुप-निर्माण के लिए नाटककार ने बोल-चाल की भाषा में से ही विविध उपयुक्त शब्दों का चुनाव किया है।

'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा पूर्णता भावानुकूल एवं प्रवाहमयता के गुणों से ओत-प्रोत है। प्रसंगानुकूल गंभीर भावों की अभिव्यक्ति में गंभीर भाषा का प्रयोग हुआ है और हल्के-फुल्के प्रसंगों पर हल्की-फुल्की भाषा का

प्रयोग हुआ है । इसके साथ-साथ सभी प्रसंगों में चाहे हल्के हो या गहन भावों से युक्त, भाषा में सहज गति, प्रवाहमयता बनी रहती है। उदाहरण इन पंक्तियों के रूप में देख सकते हैं-

"स्त्री: मैं नहीं लूँगी चाय।

बड़ी लड़की : सबके लिए बना रही हूँ एक-एक प्याली

लड़का : मेरे लिए नहीं।

बड़ी लड़की : क्यों पानी रख रही हूँ सिर्फ पत्ती लानी है...

लड़का : अपने लिए बनानी हो, बना ले।

बड़ी लड़की : मैं अकेली पिऊँगी ? इतने चाव से चीज-सैंडविच बना रही।"[2]

मोहन राकेश के सभी नाटकों में पात्रों की मनः स्थिति प्रवृत्ति एवं व्यक्तित्व के अनुरूप भाषा प्रयुक्त है । 'आधे-अधूरे' नाटक के पात्र अपनी मनःस्थिति में स्कंदगुप्त, अजातशुत्र, पहला राजा आदि नाटकों के पात्रों की तरह लंबे-लंबे एवं दार्शनिक वाक्यों का प्रयोग नहीं करते हैं। अपितु अपने समकक्षी व्यक्ति को श्रोत बनाकर बोलचाल की शब्दावली में अपने मन की भड़ास निकालते हैं। महेंद्रनाथ जैसे दब्बू एवं पराश्रित पुरुष के अंतर्द्वंद को रचनाकार ने मनोदशा के रूप में व्यक्त किया है। जैसे - "सचमुच महसूस करता हूँ। मुझे पता है कि मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर ही अंदर इस घर को खा लिया है । (बाहर दरवाजे की तरफ चलता है) पर अब पेट भर गया है मेरा । हमेशा के लिए।"[3] इसी तरह नाटक के अन्य पात्रों की भाषा भी उनके चरित्र के अनुरूप ही है । किन्नी की भाषा में विद्रोही, जिद्दीपन झलकता है तो पुरुष चार अथवा जुनेजा की भाषा में जीवन के अनुभव की गहराई।

इस नाटक में जगह-जगह पर पात्रों की कारुणिक मनःस्थिति, भयावह परिवेश की विसंगति एवं घुटन, टूटन, बिखराव आदि को व्यक्त करने के लिए नाटककार ने भाषा ध्वन्यात्मकता एवं व्यंग्यात्मक का प्रयोग किया है। नाटक में कई स्थलों पर शब्द और उसके अभिधेयार्थ को नकारने की कोशिश की गई है। सिंघानिया के संवाद शब्दों के अभिधेय अर्थ का अतिक्रमण कर जाते हैं-

“पुरुष दो: हाँ-हाँ जरूर (बड़ी लड़की से) लो तुम भी (स्त्री से) बैठ जाओ अब।

स्त्री : (मोढ़े पर बैठती) उस विषय पर सोचा आपने कुछ ?

पुरुष दो : किस विषय में ?

स्त्री : वह जो बात मैंने की थी आपसे.....कि कोई ठीक सी जगह हो आपकी नजर में...तो

पुरुष दो : बहुत स्वादिष्ट है।”[4]

यहाँ पर स्त्री और पुरुष दो के संवादों में तार्किक संगति न होते हुए भी दोनों की मनःस्थिति व्यक्त होती नजर आ रही है। वह जो..तो के उत्तर में बहुत ही स्वादिष्ट है। वाक्य समकालीन जीवन की विसंगत स्थितियों को नाटकीय ढंग से संप्रेषित करता है। नाटक में यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए व्यंग्यात्मक भाषा-शैली को अपनाया गया है। नाटक के लगभग सभी पात्रों की भाषा में व्यंग्य की तीखी मार दिखाई देती है। इससे जहाँ भाषा में विचित्र्य का समावेश हुआ है, वही चमत्कार भी उत्पन्न हो गया है। विशेष रूप से महेंद्रनाथ एवं अशोक के संवादों की भाषा तो पूर्णतः व्यंग्यपरक है। सावित्री एवं महेंद्रनाथ की वार्तालाप पूर्णतः व्यंग्यपरक है। यथा –

“पुरुष एक: हाँ-हाँ सिंघानिया को लगाव ही देगा जरुर। इसीलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर।

स्त्री : शुक्र नहीं मानते कि एक इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से.....

पुरुष एक : मैं नहीं शुक्र मनाता ? जब-जब किसी नये आदमी का जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था।

स्त्री : और क्या-क्या बात रह गई है कहने को बाकी ? वह भी कह डालो जल्दी से।”[5]

‘आधे-अधूरे’ नाटक में सामान्य बोलचाल की भाषा में उर्दू-अंग्रेजी मिश्रित हिंदी ही अधिकांश प्रयुक्त हुई है। इस नाटक में मध्य एवं निम्न-मध्य हिंदी-भाषी परिवारों में व्यवहार में लाई जाने वाली भाषा का प्रयोग यहाँ किया है,

उपर्युक्त विभिन्न एवं विविध भाषाओं के प्रयोग के कारण ही भाषा का यह वर्गीय स्वरूप साकार हो पाया है। यहाँ कुछ सम्मिलित प्रयोगों वाले उदाहरण इस प्रकार है-

"प्रथम पुरुष: वह मुझ से तय करके तो आता नहीं कि मैं उसके लिए मौजूद रहा करूँ घर पर।

स्त्री : कह दूँगी, आगे से तय करके आया करे तुम से। तुम इतने बिजी आदमी जो हो पता नहीं कब किस बोर्ड की मीटिंग में जाना पड़ जाय।"[6]

नाटक में यत्र-तत्र प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी खुलकर हुआ है। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग पात्रों के संवादों में भी है और स्वयं नाटककार ने अपने मंचीय संकेतों में भी इनका प्रयोग किया है जैसे- सिगार, फुटपाथ, स्कूल बैग, मैगजीन, बॉस, मीटिंग, किट आदि। 'आधे-अधूरे नाटक भाषायी प्रयोगों की दृष्टि से एक अत्यंत सार्थक एवं जीवंत मुहावरा लिए हुए हैं। यथार्थवादी होने की वजह से नाटक की भाषा शैली में सपाटबयानी एवं यथार्थवादी शैली व्याप्त है। इस यथार्थपरक भाषा-शैली से नाटककार ने आधुनिक जीवन की नग्न सच्चाइयों विसंगतियों को बड़े प्रभावी ढंग से प्रकट किया है।

'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा-शैली हमारे आधुनिक समाज की जन-प्रचलित भाषा है। इस प्रकार की सहज नाटकीय भाषा का चमत्कार कोई मोहन राकेश जैसा व्यक्तित्व ही दिखा सकता है। मोहन राकेश ने 'आधे - अधूरे' नाटक में बहुत सरल और आम जन जीवन की भाषा का प्रयोग किया है जिससे कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सकें। नाटक की भाषा सादी,सच्ची और एकसमान तनाव-भरी है। इसमें एक ओर जहाँ बोलचाल की भाषा की लय और उसकी बुनावट है,वहीं दूसरी ओर सहज प्रवाह एवं स्वत:स्फूर्तता भी है।

4.क.ii.पात्र-योजना:-

मोहन राकेश ने प्रारंभिक दोनों नाटकों में ऐतिहासिक चरित्रों का सहारा लिया है किंतु प्रस्तुत नाटक के सभी पात्र वर्तमान परिवार के हैं। नाटक के सभी पात्र आधुनिक मध्य-वर्गीय समाज के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक पात्र योजना की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि उन्होंने एक ही पात्र में चार व्यक्तियों की भूमिकाओं की परिकल्पना की है। काले सूट वाला आदमी, जब पतलून-कमीज के

वेशांतर में आता है तो पुरुष एक अर्थात् महेंद्रनाथ बन जाता है, पतलून और बंद गले का कोट पहन कर पुरुष दो अर्थात् सिंघानिया नजर आता है। पतलून-टीशर्ट पहनकर हाथ में सिगरेट का डिब्बा लिये जब मंच पर अवतरित होता है तो पुरुष तीन के रूप में जगमोहन का प्रतीक बन जाता है, पतलून के साथ पुरानी काट का लंबा कोट पहनकर काइयाँ जुनेजा अर्थात् पुरुष चार के रूप में परिचय पाता है। इन सबके बीच एक नायिका है सावित्री। अन्य पात्र है बड़ी लड़की बिन्नी, छोटी लड़की किन्नी और लड़का अशोक।

नाटक का नायक और प्रमुख पात्र महेंद्रनाथ है। वह आधुनिक संवेदनाओं से युक्त पात्र है। जिसकी उम्र लगभग उनचास-पचास वर्ष की है। वह बेकार और जीवन में असफल पति है। जीवन में असफल होने पर अपनी पत्नी सावित्री की कमाई खाता है। घर में उसे पति एवं पिता का स्थान भी नहीं मिलता है। आज के समय में मनुष्य का जीवन एक मशीन की तरह बन गया है। महेंद्रनाथ परिस्थितियों के दबावों से घिर जाता है। उसकी बेरोजगारी के कारण इज्जत भी नष्ट हो जाती है। वह अपनी पत्नी को पीटता है और कपड़े भी फाड़ देता है।

महेंद्रनाथ अपने मित्रों में बहुत लोकप्रिय है। उसके बिना पार्टी में मजा नहीं आता। परंतु महेंद्रनाथ व्यावहारिक नहीं है। उसे व्यापार धंधे की समझ भी नहीं है। वह न तो एक सफल पति बन पाया, न एक पिता। हर वक्त वह बोझ बना रहा, कभी पत्नी पर, कभी मित्रों पर। एक तरह से वह उस परिवार में रबर स्टैम्प, घर-घुस्सु, लिजलिजा और चिपचिपा-सा आदमी है। असफल, आधा और अधूरा ! वह निक्कमा, अकेला और अस्तित्वहीन जीवन जी रहा है। वह परजीवी है, मान-अपमान की पीड़ा से मुक्त।

सावित्री प्रस्तुत नाटक की प्रमुख नारी चरित्र एवं नायिका है। सावित्री को नाटककार मोहन राकेश ने आधुनिक काल की नारी के रूप में चित्रित किया है। वह अपने जीवन में एक साथ सब कुछ पाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। नाटक का संपूर्ण कथा चक्र नायिका सावित्री के इर्द-गिर्द परिक्रमा करता है। सावित्री एक पहचान है उस स्त्री की जिसकी उम्र चालीस वर्ष का स्पर्श कर चुकी है।

सावित्री का चरित्र आम भारतीय नारी से पृथक किस्म का है। वह एक ऐसी आधुनिक नारी है जो सदैव युवती बन रहने का भ्रम पालती है। वह कुंठाग्रस्त और अपूर्ण है जो जीवन का लक्ष्य देह-सुख में ढूँढती है। जीवन की विसंगति, पति के रूप में गलत व्यक्ति का चयन और अनेक व्यक्तियों से संबंध उसके चरित्र को विवादास्पद

बनाते हैं। वह कुलटा नहीं है, घर और प्रेम के धरातल पर असफल जरुर है। सावित्री के लिये जीने का मतलब रहा है "कितना-कुछ एक साथ होकर, कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना-कुछ एक-साथ ओढ़कर जीना। सावित्री ने जिंदगी को अपनी मुट्ठी में कितना कुछ एक साथ भर लेना चाहा था, किंतु इस चाह में जो कुछ उसमें था, वह भी धीरे-धीरे फिसलता चला गया। न पति का प्यार मिला, न बच्चों का स्नेह और न बाहर के लोगों का अपनापन। उम्र बढ़ने के साथ सावित्री के मन में एक डर समा गया, जिसके मारे वह कभी घर का दामन थामती रही, कभी बाहर का।"[7]

सावित्री की सोच है कि आदमी अपना अधूरापन भरने अपनी जरूरत पूरी करने के लिए घर बसाता है। इस तरह उसे अपने लिये...अपने में...पूरा होना होता है, पर उसके जीवन में त्रासदी यह है कि उसे किसी दूसरों के अधूरेपन को पूरा करने में ही अपनी जिंदगी काटनी पड़ रही है। सावित्री के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि भीतर ही भीतर सुलगते हुए भी वह परिस्थिति और सामने वाले व्यक्ति को ध्यान में रखकर बात करती है। सावित्री के चरित्र में अमूर्त चाह, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए ललक, भावना और क्रिया का अभाव, दूसरों को उपादान समझने की भावना और अपनी असमर्थता को दूसरों की देन समझने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

सावित्री एक घर की तलाश में है पर वह घर उसे नहीं मिलता जो मिलता है वह सब कुछ है पर घर नहीं है, जहाँ दो-पल शांति के साथ जिया जा सके। वह नारी की मुक्ति-भावना के बीच विघटनशील जीवन-मूल्यों, वैवाहिक संबंधों की विडम्बना और पुरुष के अधूरेपन को भोगने के लिए अभिशप्त है।

नाटक के पुरुष पात्र दो के रूप में सिंघानिया आता है। वह भुलक्कड़ स्वभाव का है। उसके व्यक्तित्व में कुत्सित रूचि से ग्रस्त आत्मलीन मनोवृत्ति निहित है। वह किसी भी प्रकार की बात को अपनी सोच के अनुसार समझता और सुनता है। सिंघानिया सावित्री का बॉस है। सावित्री उसे अपने घर अशोक की नौकरी की बात के लिए बुलाती है, किंतु उसकी दृष्टि उस बिंदु से अलग हट कर उसकी बेटी बिन्नी पर यौन तृष्णा की दृष्टि से रहती है। प्रस्तुत नाटक में मोहन राकेश ने सिंघानिया के द्वारा कार्यालय में कार्यरत नारी कर्मचारी के प्रति उसकी यौन शोषण करने की दृष्टि का पर्दाफाश किया है।

जुनेजा भी पुरुष पात्रों में एक है। वह नाटक के पुरुष चार के नाम से आता है। वह महेंद्रनाथ का प्रिय दोस्त तथा एक व्यापारी है। महेंद्रनाथ के परिवार का वह भी शोषण करता है। जुनेजा महेंद्रनाथ के साथ दो बार साझेदारी में काम करता है। दोनों ही बार वह अर्थ शोषण करके उसे खोखला कर देता है। महेंद्रनाथ अपनी तक़दीर को दोषी मानकर बैठ जाता है, लेकिन सावित्री को यह बात पचती नहीं है। तक़दीर महेंद्रनाथ का साथ नहीं देती, किंतु जुनेजा उसका साथ देता है। जुनेजा एक भला आदमी है। सावित्री के कारनामों से आहत होकर महेंद्र्नाथ जुनेजा के यहाँ पहुँचता है। जुनेजा बहुत समझदार व्यक्ति है वह हमेशा पति-पत्नी को समझाने का प्रयास करता है। अंत में वह महेंद्रनाथ के घर जाता है। जुनेजा के आने से बिन्नी एवं किन्नी दोनों बहनों का झगड़ा समाप्त होता है।

नाटककार मोहन राकेश ने अन्य पात्रों में महेंद्रनाथ की छोटी बेटी किन्नी को भी आधुनिककाल की लड़कियों के प्रतीक के रूप में रेखांकित किया है। उसका स्वभाव भाई अशोक एवं बहन बिन्नी से भी भिन्न प्रकार की है। वह दोनों भाई बहनों से ज्यादा जिद्दी है। परिवार के अन्य सदस्यों के व्यक्तित्व की छाया उसमें भी देखने को मिलती है। हर कदम पर वह विद्रोहपूर्ण व्यवहार करती है। प्रस्तुत नाटक के अन्य पात्रों के समान किन्नी में भी अकुलाहट खीज एवं अधूरापन देखने को मिलता है। कम उम्र में वह यौन संबंधों में रूचि रखती है। तथा स्वयं से अधिक उम्र की सुरेखा से दोस्ती रखती है और बड़ी दिलचस्पी के साथ उससे यौन संबंधी बाते करती रहती है। माँ-बाप का प्यार, संस्कार न पाकर वह मुंहफट एवं जिद्दी बन जाती है। उसके लिए बड़ों का कोई महत्त्व एवं लिहाज नहीं है। अशोक के समान वह भी अपने आपको ढालने का प्रयास करेगी ऐसा सबके सामने स्पष्ट कह देती है। किन्नी के पात्र द्वारा नाटककार ये बताने की कोशिश करते है कि किस प्रकार माँ-बाप की असावधानी तथा उचित परिवेश के अभाव में तथा घर-परिवार तथा आसपास के वातावरण के फलस्वरूप बच्चों में जो बदलाव आता है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक ‘आधे-अधूरे’ के अधिकांश पात्रों में आधुनिकता के दर्शन होते हैं।

‘आधे-अधूरे’ नाटक की न तो पात्र –योजना ही परम्परागत है और न ही पात्रों के चरित्र –चित्रण ही। नाटककार मोहन राकेश ने परम्परा से सर्वथा हटकर आधुनिक जीवन के व्यावहारिक एवं यथार्थ परिवेश से जीवंत एवं यथार्थ पात्र चुने हैं और उनका चरित्रांकन भी लीक से हटकर एक नये, मौलिक एवं अभूतपूर्व आयाम में किया है। इसी कारण इस नाटक के पात्रों, उनके व्यक्त-अव्यक्त चरित्रों का तो अपना एक अलग यथार्थ व्यक्तित्व है। ‘आधे-

अधूरे' की पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मोहन राकेश ने नाटक को 'जीवन की अवस्थानुकूल अनुकृति' मात्र ही नहीं रहने दिया है बल्कि उसे वास्तविक और व्यावहारिक जीवन ही बना दिया है।

4.क.iii.कथा-वस्तु:-

'आधे-अधूरे' नाटक में कोई सुसंगठित कथानक या घटना-क्रम नहीं है। कुछ आंतरिक और बाह्य से जुड़ी हुई स्थितियाँ हैं जिसका उद्घाटन, चित्रण एवं विश्लेषण यहाँ वस्तु विधान के नाम पर हुआ है। यह नाटक जीवन का एक बोध है, जिसे हम मूल कथानक, कथावस्तु या वस्तुविधान आदि कुछ भी कह सकते हैं। एक परिवार है, कहने के लिए उसका एक मुखिया (पति और पिता) भी है, जिसका नाम महेंद्रनाथ है। महेंद्रनाथ और उसका परिवार एक महानगर में रहता है। आर्थिक दृष्टि से यह परिवार पहले मध्य-वित्तीय अवस्था में था, पर महेंद्रनाथ को कारोबार में घाटा पड़ जाने के कारण अब उस परिवार का ह्रास क्रमशः निम्न-मध्यवर्गीय वित्तीय स्थितियों की ओर बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। इस कारण वहाँ व्यक्ति के स्तर पर सभी के जीवन में घुटन है, तनाव है और उसके परिणामस्वरूप परस्पर कटाव है। अंतिम रूप से पारिवारिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विघटन एवं अपरिचय की स्थितियाँ आ जाती है।

इस नाटक में एक मध्यवर्गीय पारिवारिक की त्रासदी है। प्रस्तुत नाटक का आरंभ एक काले सूट वाले आदमी के स्वागत कथन से होता है – "परंतु मैं अपने संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कर सकता।"[8] उनके इस प्रकार के कथन से यह सूचना मिलती है कि वह स्वयं ही आंतरिक संघर्ष में पड़ा है। मध्यवर्गीय परिवार के महेंद्रनाथ के साथ सावित्री का विवाह होता है। महेंद्रनाथ का प्रेस का कारोबार था और जब तक वह अच्छी तरह से चल रही थी उनके परिवार के ठाट-बाँट किसी उच्च-वर्गीय से कम नहीं थे। सावित्री की इच्छा के अनुसार "वे चार सौ रूपये महीना किराया के मकान में रहते थे। टैक्सियों में आते-जाते थे। किश्तों पर फ्रीज ख़रीदा गया था और बच्चे कान्वेंट में पढ़ते थे।"[9]

इस प्रकार अत्यधिक खर्चों के कारण कुछ दिनों में प्रेस का कारोबार ठप्प हो जाता है और महेंद्रनाथ निठल्ला बनकर बेकार घूमने लगता है। कारोबार ठप्प हो जाने से परिवार की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जाती है और परिवार मध्यवर्ग से निम्नमध्यवर्ग की ओर झुक जाता है। जीवन की अनेकानेक ख्वाहिशें रखनेवाली और

आराम में जीवन जीने की आदि बनी सावित्री को परिवार की बिगड़ी हुई आर्थिक परिस्थिति के साथ समझौता करना असंभव होता है। महेंद्रनाथ के बेकारी के कारण घर का सारा बोझ सावित्री के कंधे पर आ जाता है। इस परिवार को चलाने के लिए सावित्री नौकरी करने लगती है। लेकिन नौकरी करने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती है। वह जब दफ्तर से घर आती है तो उसे घर के सारे समान बिखरे हुए मिलते है। उसे कहीं शांति नहीं मिलने पर अपने पति के साथ किच-किच करती है। घर की व्यवस्था को लेकर पति-पत्नी में कहा सुनी होने लगती है। सावित्री कहती है- "यह अच्छा है कि दफ्तर से आओ, तो कोई घर पर दिखे नहीं। कहाँ चले गये थे तुम ? पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का ? रोज आने पर पचास चीजें यहाँ-वहाँ बिखरी मिलती है।"[10]

महेंद्रनाथ अपनी पत्नी सावित्री के ऊपर सर्वथा अवलंबित रहने के कारण अपने ही घर में उपेक्षित है। जुनेजा के कारण सावित्री एवं महेंद्रनाथ दोनों छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते हैं और किसी न किसी बहाने अपना आक्रोश एक दूसरे पर प्रकट करते हैं। अशोक भी अपनी माँ-बाप की बिना अनुमति लिए घर से तीन चार दिन बाहर रहता है। बड़ी लड़की बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी मनोज से भागकर विवाह कर लेती है, किंतु थोड़े ही दिन बाद वह अपने वैवाहिक जीवन से खिन्न रहने लगती है। बिन्नी को शादी से पहले लगता था कि मनोज अच्छा आदमी है लेकिन उसे मनोज के साथ रहते हुए मालुम होता है जिसे वह स्वयं कहती है – "दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, हवा में साँस ले, उतना ही ज्यादा अपने को एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें।"[11] इस प्रकार बिन्नी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि मनोज एवं उसके बीच में वैमनस्य है।

सावित्री की छोटी लड़की किन्नी पर भी घर के बुरे वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वह भी अपने जीवन से संतुष्ट नहीं है। वह अपने भाई की तरह इधर-उधर घूमना चाहती है। उसे लगता है कि घर में उसे लाड़-प्यार मिलता ही नहीं। जब स्कूल से घर आती है तो शिकायत करते हुए कहती है कि "बताओ चलता है कुछ पता? स्कूल से आई, तो घर पर कोई भी नहीं था। और अब आई हूँ तो तुम भी तो, डैडी भी हैं, बिन्नी दी भी हैं, पर सब लोग ऐसे चुप हैं जैसे.....।"[12]

किन्नी स्कूल संबंधित बाते करते हुए सभी से कहती है कि मुझे कॉपी, पेंसिल नहीं दिलवाती हो जिस कारण शिक्षक मुझे डांटते हैं। मुझे सभी के सामने अपमानित होना पड़ता है। जिस कारण से किन्नी घर-परिवार

वालों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करती है। किन्नी को यौन संबंधों से संबंधित पुस्तके पढ़ने में तथा पड़ोसी की सहेली सुरेखा के साथ यौन संबंधों को लेकर बाते करने में दिलचस्पी रहती है। वह बड़ी बहन से यह कहती है कि भैया जब इधर-उधर घूमता है, उसे तो कोई कुछ नहीं कहता है। फिर बाकी घरवाले मुझे ही क्यों कहते रहते हैं ? अशोक और किन्नी आपस में कुछ बात को लेकर उलझ पड़ते हैं। सावित्री दोनों को शांत करती हुई कहती है कि आज सिंघानिया आने वाले है अशोक तुम घर पर ही रहना। तुम्हारी नौकरी की बात मैंने उनसे की है। तभी अशोक भड़क उठता है और कहता है- "मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम से कम उस आदमी के जरिए हरगिज नहीं।......चुकंदर है। वह आदमी है ? जिसे बैठने का शऊर है, न बाते करने का।"[13] सावित्री अशोक की इस प्रकार की बातों से बहुत नाराज होती है और अशोक से कहती है कि तू जिंदगी भर कुछ काम-दाम करेगा या ऐसे ही निठल्ले की तरह घूमता रहेगा। इसी समय सिंघानिया आता है और सावित्री अपनी बड़ी लड़की बिन्नी का परिचय देती है। सावित्री कुछ औपचारिक बातचीत के बाद सिंघानिया से अशोक की नौकरी की बात करती है लेकिन सिंघानिया को अशोक का व्यवाहर अच्छा नहीं लगता है। जब सिंघानिया अशोक से बातें करता है तब अशोक कार्टून बनाता रहता है। सावित्री को अशोक का व्यवाहर बहुत अखरता है। सावित्री सोचती है कि वह इन लोगों से संबंध इसलिए बनाती है जिससे घर की परिस्थिति में सुधार हो। फिर अशोक और सावित्री के बीच टकरार होती है। सावित्री उदास होकर फिर ऑफिस चली जाती है।

सावित्री के घर एक दिन जुनेजा पीछे वाले दरवाजे से आता है। जुनेजा पीछे वाला दरवाजा से इसीलिए आता है क्योंकि घर के बाहर जगमोहन की गाड़ी पड़ी होती है। जुनेजा अंदर आकर घर के सदस्य से कहता है कि महेंद्रनाथ रात-भर सोया नहीं है उसका स्वास्थ्य बिलकुल भी अच्छा नहीं है। बिन्नी यह सुनकर जुनेजा को पिछले दिन माँ-बाप के बीच के झगड़े के संबंध में कहने लगती है। जैसे जुनेजा सावित्री के बारे में कहता है- "तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है- कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस-किसी के साथ भी जिंदगी शुरू करती, तुम हमेशा ही इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हें अपने आसपास सिर पटकता और कपड़े फाड़ता नजर आता और तुम....।"[14] सावित्री जगमोहन के साथ रहना चाहती है परंतु सामाजिक प्रतिष्ठा एवं ढलती उम्र के कारण जगमोहन उसे अस्वीकार करता है। वह फिर महेंद्रनाथ के साथ ही

जिंदगी बिताने का निर्णय करती है और वापस घर लौट आती है। उसी समय जुनेजा आता है जो महेंद्रनाथ का मित्र है। वह सावित्री के स्वार्थ को उधेड़कर रख देता है। ठीक उसी समय अशोक के साथ महेंद्रनाथ भी ब्लडप्रेशर से परेशान होकर लड़खड़ाता घर के अंदर प्रवेश करता है। इस प्रकार यही पर नाटक का अंत होता है।

प्रस्तुत नाटक में नाटककार मोहन राकेश ने अपने विचारों को संप्रेषित करने के लिए ऐतिहासिक आधार को नहीं लिया है। आज का मनुष्य का जीवन जिन अनेक प्रकार की विसंगतियों के फलस्वरूप अधूरेपन की अनुभूतियों से भर चुका है विशेषतः अर्थ और काम को लेकर उन्हीं को प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने जीवंत पात्रों के माध्यम से रूप व आकार प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है। इस नाटक में सारा परिवार ही अनेक प्रकार की हीन ग्रंथियों से ग्रसित होकर एक विचित्र सा अधूरा और अपरिपक्व सा व्यवहार करता हुआ दिखाई पड़ता है।

मोहन राकेश का यह तीसरा नाटक 'आधे-अधूरे' समसामयिक है। जिसकी पृष्ठभूमि अति आधुनिक है। नाटक की कथावस्तु द्वारा आज की संत्रासपूर्ण परिस्थितियों की कटु संभावनाओं का संकेत किया गया है। आज के दाम्पत्य जीवन में आर्थिक विषमता ने किस प्रकार विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया है, साथ ही मानसिक यंत्रणा से त्रस्त मध्यवर्गीय स्त्री पुरुष के जीवन को नाटक सशक्त से व्यक्त करता है। स्त्री-पुरुष के लगाव व तनाव तथा पारिवारिक विघटन की यह गाथा अपने में 'अधूरे' मनुष्य की काल्पनिक पूर्णता की खोज की महत्त्वाकांक्षा की यातना को उजागर करती है। महेंद्रनाथ, सावित्री, बड़ी लड़की बिन्नी, अशोक, किन्नी आदि आधुनिक जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यह नाटक मध्यवर्गीय पारिवारिक जिंदगी की विसंगति को उभारता है। सावित्री उस मध्यवर्गीय वित्तीय मानसिकता की शिकार है जो धन को जीवन में अतिरिक्त महत्त्व देती है और महत्त्व का मूल्य भी मानती है। इसमें मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री-पुरुष संबंध, माँ-बाप और पुत्र एवं पुत्री आदि के संबंधों का बिखराव है। महेंद्रनाथ सावित्री का पति है जो बेकार आदमी है। सावित्री अपने परिवार को चलाने के लिए दफ्तर में नौकरी करती है। घर का सारा दायित्व सावित्री के कंधे पर है। अपने घर में और बंधुजनों के सामने महेंद्रनाथ नाकारा और व्यक्तिहीन व्यक्ति है। सावित्री अपने पति से बढ़कर जुनेजा, सिंघानिया, जगमोहन और मनोज को मानती है और इन भ्रष्टाचारियों में पूर्णता पाने की कोशिश भी करती है। अंत में सावित्री अपने ही घर में परायापन का अनुभव करती हैं।

मध्यवर्गीय नारी सावित्री अधूरेपन के अनुभव से ऊपर पूर्णता की तलाश में भटकती है। सावित्री के कारण ही परिवार का बिखराव होता है। महेंद्रनाथ में इस प्रकार की हीन ग्रंथि का भाव था। प्रस्तुत नाटक अलगाव, बिखराव, असंतुष्ट पारिवारिक रिश्तों का एक समाहार है। ये अभाव ही आधुनिक मानव की विधि है। मोहन राकेश ने स्वयं लिखा है कि – "सड़क के फुटपाथ पर चलते हुए अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं ही हूँ।"[15] नाटककार कहना चाहते हैं कि प्रस्तुत नाटक के पात्र हमारे सड़कों पर मिलने वाले हैं। इस नाटक में नौकरी करनेवाली सावित्री के समान अन्य नारियों का अहम् भी प्रकट हुआ है।

महेंद्रनाथ एवं सावित्री के परिवार के समान आज का मध्यवर्गीय परिवार भी विसंगतियों के बीच जी रहा है। महेंद्रनाथ जैसे कई व्यक्ति अपने जीवन में विसंगत स्थिति में जी रहा है। सावित्री मध्यवर्ग की प्रतिनिधि है और सिंघानिया संपन्न वर्ग का। इन दोनों के बीच संवाद ही नहीं रह गया है। अपनी अलग-अलग हैसियत के कारण दोनों का संबंध लगभग टूट चुका है। सावित्री अपने घर पर बड़े लोगों को इसलिए बुलाती है कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके। परिवार का इतना बोझ उठाने के बावजूद भी घर के सदस्य सावित्री को सम्मानित दृष्टि से देखते नहीं है। जैसे वह कहती है "यहाँ पर सब लोग समझते क्या है मुझे ? एक मशीन, जो कि सबके लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है ? मगर किसी के मन में ज़रा-सा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं।"[16] सावित्री अर्थोपार्जन के लिए अपनी नौकरी तथा बड़े लोगों में इतनी खो जाती है कि छोटी लड़की किन्नी के लिए भी उसे समय मिलता नहीं है। कुल मिलाकर नाटककार मोहन राकेश ने समकालीन व्यक्ति और व्यक्ति के विघटन का आर्थिक पहलू प्रभावी रूप में स्पष्ट किया है।

'आधे-अधूरे' नाटक की कथावस्तु बहुत ही संक्षेप है। इस नाटक में पात्रों की संख्या बहुत कम है, किन्तु प्रत्येक पात्र अहम भूमिका निभाते हैं। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से दिल्ली में रहने वाले मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति को दिखाया है।

4.क. iv. नाट्य संवाद:-

संवाद-योजना नाटक का प्राणतत्व होता है। प्रथम दृश्य इसकी कथा से स्पष्ट नहीं है परंतु जैसे-जैसे संवाद आगे बढ़ता है कथा स्पष्ट होने लगती है। नाटक का कथ्य, कथानक, भाव, विचार, उद्देश्य, समस्यांकन, पात्रों

के अंत, बाह्य चरित्र, संवेद्य, संवेदना और अनुभूतियाँ, यहाँ तक कि वातावरण की परिस्थितियों की वास्तविक अभिव्यक्ति भी नाटकों में संवादों के माध्यम से ही हो पाती है। कथानक की योजना, उसका मध्य, अंत आदि विभिन्न स्थितियों में अन्तः बाह्य विकास भी संवादों द्वारा ही नाटकों में संभव हुआ करता है। 'आधे-अधूरे' के संवादों में प्रयुक्त भाषा अपनी तल्खी और टोन के कारण बहुचर्चित हुई, उससे संबंधों के बिखराव की स्वभाविकता परिलक्षित होती है। मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक के संवाद के सभी रूपों का प्रयोग एकदम स्वच्छंद, मुक्त एवं स्वभाविक रूप में किया है। सबसे बड़ी और मुख्य बात तो यह है कि आज का नाट्य-शिल्प एवं राग-शिल्प जिस प्रकार के सरस, सुगम, स्वाभाविक है और जैसे संवादों की मांग करता है, मोहन राकेश के प्रस्तुत नाटक के संवाद सभी दृष्टियों से उसी प्रकार के हैं।

'आधे-अधूरे' के संवाद अपनी आंतरिक लयात्मकता में मौलिक, सांकेतिक एवं व्यंग्य-प्रधान है। नाटक की भाषा में वही आक्रामकता है, जो उसके चरित्र और घटनाओं में अभिव्यंजित है। आक्रामकता और आक्रोश इस नाटक का प्राण तत्व है। संवादों में कुछ प्रभावी प्रयोग हुए हैं, यथा- 'वे सब तो एक रबड़ स्टैम्प के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अंदर से मैं आराम तलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।"[17] व्यंग्य भरे संवाद भी नाटकी अर्थक्ता को बढ़ावा देते हैं। व्यंग्य भाषा का प्रयोग ही आधुनिकता का प्रमाण है। उदाहरण के रूप में देख सकते हैं कि सावित्री जब सिंघानिया के तनख्वाह की बात करते हुए उसकी प्रसंशा करती है तब अशोक कहता है- "पाँच हजार तनख्वाह है, पूरा दफ्तर संभालता है, पर इतना होश नहीं है कि अपनी पतलून के बटन...।"[18]

आलोच्य नाटक में छोटे-बड़े सभी प्रकार के संवाद भी है। सभी संवादों में सशक्तता है। कुछ संवाद तो एक दो शब्दों के सहारे ही खड़ा है। फिर भी वह संवाद पराश्रित नहीं है। उसमें भी प्रभावशीलता है। जैसे – बिन्नी एवं अशोक का यह संवाद –

"लड़का: हा-हा!

बड़ी लड़की : यह किस बात पर ?

लड़का : एक्टिंग देखा ?

बड़ी लड़की : किसका ?

लड़का : मेरा !

बड़ी लड़की : तो क्या तू...?

लड़का : उल्लू बना रहा था उसे।

बड़ी लड़की : पता नहीं, असल में कौन उल्लू बन रहा था।"[19]

'आधे-अधूरे' में पात्रों की गति के स्थान पर संवादों की गति को अधिक महत्ता प्रदान की गई है। सिंघानिया और जुनेजा को छोड़कर नाटक के सभी पात्र अपने मानसिक आक्रोश को जीवंत अभिव्यक्ति देने के लिए गतिशील संवादों के आश्रय में विकासमान होते हैं। जुनेजा और सिंघानिया के चरित्र में ठहराव होने से वे गति से बाहर हैं। नाटक में प्रयुक्त संवाद प्रायः सभी प्रकार के संवाद 'आधे-अधूरे' का वैशिष्ट्य हैं।

'आधे-अधूरे' के वातावरण में अनुकूलता स्थापित करने में छोटे-बड़े सभी तरह के विविध संवादों की भूमिका निर्विवाद है। सभी पात्र अपनी-अपनी उम्र एवं अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। राकेश ने अपने इस नाटक में भाषा को पात्रों के मनोभावों के आंतरिक जगत से जोड़ा है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के शब्दों में 'आधे-अधूरे' के संवादों में भावों की पूर्णता, अर्थ की सहज ग्राह्यता और पात्रानुकूलता का जवाब नहीं है। राकेश के संवादों में निरर्थक प्रसंग, अर्थहीन शब्द, वाक्य के गठन की शिथिलता, लड़खड़ाहट तथा अस्पष्टता कभी नहीं मिलेगी, क्योंकि वे कथा-विकास से अधिक चरित्र से जुड़े हुए हैं या समूचे रंगमंच से या रंग चेतना से। हिंदी नाटकों के संवादों में इस हद तक पात्र और रंगमंच से उनकी आंतरिकता से सूक्ष्म संबंध दिखायी नहीं देता।"[20]

इस नाटक की संवाद-योजना के मध्य एक अन्य अत्यधिक विशिष्ट गुण भी दिखाई देता है। उसे हम संवाद-योजना का मौन रूप कह सकते हैं। अनेक स्थानों पर पात्र संवाद बोलते-बोलते सहसा रुक जाते हैं। एकाएक निःशब्द से परस्पर देखने या इधर-उधर की कुछ व्यर्थ-सी क्रिया-प्रक्रियाएँ करने लगते हैं। पर यह मौन

और व्यर्थ की क्रिया-प्रक्रियाएँ निश्चय ही संवाद के शब्दों से भी कहीं अधिक कह जाती है। सारा नाटक आदि से अंत तक तनाव एवं आंतरिक घुटन की स्थितियों में ही घटित होता है। संवाद-योजना का यह मौन या निःशब्द रूप वास्तव में तनाव और घुटन से पूर्ण क्षणों को बोधात्मक किंतु मूक स्वर प्रदान करता है। इस प्रकार संवादों की शाब्दिक एवं सांकेतिक योजना के बीच आने वाले मौन-संवादों या निःशब्द संवादों से भरे एक प्रसंग का उदाहरण इस तरह से हैं –

"स्त्री: (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं......।

(कहती हुई अहाते के दरवाजे की तरफ मुड़ती है कि बाहर से बड़ी लड़की की आवाज सुनाई देती है।)

बड़ी लड़की : ममा ! (स्त्री रूककर उस तरफ देखती है। चेहरा कुछ फीका पड़ जाता है।

स्त्री : बीना आई है बाहर

(पुरुष एक न चाहते मन से अखबार लपेट कर उठ खड़ा होता है।)

पुरुष एक : फिर उसी तरह आयी होगी।

स्त्री : जाकर देख लोगे क्या चाहिए उसे ?

बड़ी लड़की : ममा, टूटे पचास पैसे देना जरा।

स्त्री : पचास पैसे है न तुम्हारी जेब में ? होंगे तो सही दूध के पैसों से बचे हुए।"[21]

इस प्रसंग के संवादों में जो गैप बार-बार आया है, उसमें जिस प्रकार की क्रियाएँ की गई है, वे स्त्री-पुरुष के संबंधों, पारस्परिक तनावों एवं हीनता से भरी मनःस्थितियों को तो व्यक्त करती ही हैं, आर्थिक एवं अंतः बाह्य स्थितियों को भी निःशब्द कह सकते हैं। संवाद योजना का यह नव्य-भव्य एवं भौतिक रूप हमें अन्य कहीं कम ही दिखाई देता है।

संवादों में स्तरीय भिन्नता रहते हुए भी समग्र अनुभूति में कहीं किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती, यह एक अन्य विशेषता है। इस प्रकार का भी इस प्रसंगीय उदाहरण प्रस्तुत कर देना उचित रहेगा। सिंघानिया के घर पर आने की चर्चा चल रही है। उस समय बड़ी लड़की (बिन्नी) लड़के (अशोक) और स्त्री (सावित्री) में जो संवाद चलते हैं। उदाहरण के रूप में देख सकते हैं-

"लड़का: मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम से कम उस आदमी के जरिए हरगिज नहीं।

बड़ी लड़की : क्यों, हरगिज नहीं।

लड़का : चुकंदर है ? वह आदमी है ? जिसे न बैठने का शऊर है न बात करने का।

स्त्री : पाँच हजार तनख्वाह है उसकी। पूरा दफ्तर संभालता है, पर इतना होश नहीं कि अपनी पतलून के बटन.......।"[22]

इतना ही नहीं, इस प्रसंग में अशोक सिंघानिया की हरकतों की नकल उतारते हुए उसे घर से बाहर तक निकाल देने की बात कह देता है। तब सावित्री अपना माथा सहला कर बड़ी लड़की (बिन्नी) से कहती है – ये लोग हैं जिनके लिए मैं जानमारी करती हूँ रात-दिन। यहाँ स्तरीय भिन्नता है, एक साथ दुहरा स्तर तो है ही, मनःस्थितियाँ भी विभिन्न एवं दुहरी-सी दिखाई देती हैं, फिर भी सावित्री के अंतिम कथन में बात वहीं, उसी नाटक के संपूर्ण बिंब-तनाव एवं घुटन पर ही आकर केंद्रित हो जाती है। मूल संवेदना का तारतम्य कहीं भी टूटने नहीं पाता।

'आधे-अधूरे' में क्रियात्मक एवं सूक्ष्म मनोभावों का सामंजस्य संवादों को जड़ता और स्थूल प्रवाह से मुक्त करके नयी चेतना प्रदान करना है। एक तरह से ध्वनि, क्रिया और शक्ति का समन्वित सौंदर्य के लिए हुए 'आधे-अधूरे' संप्रेषणीय जीवंत भाषा का सुघड़ नाटक है, जिसमें सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता तथा बिंब-योजना का निर्वाह सार्थक, सरल एवं व्यंजनापूर्ण हुआ है। इस नाटक को व्यावहारिक एवं आधुनिक परिवेश की लोक-प्रचलित भाषा का नाटक भी परिभाषित किया जा सकता है। इस नाटक में कहीं-कहीं पश्चिम के विसंगत (एब्सर्ड) नाटकों की भाषा

का प्रयोग परिलक्षित होता है। इस प्रकार के प्रयोग से संवाद बेतुके अथवा बेहूदे प्रतीत होते हैं। सिंघानिया और सावित्री के बीच जो संवाद होते हैं, वह कुछ इसी तरह के विसंगत संवाद हैं –

“स्त्री: उस विषय में सोचा आपने कुछ?

पुरुष दो : किस विषय में ? (मुँह चलता है)

स्त्री : वह जो मैंने बात की थी आपसे कि कोई ठीक-सी जगह हो आपकी नजर में तो...।

पुरुष दो : बहुत स्वादिष्ट है।

स्त्री : याद है न आपको ?

पुरुष दो : याद है। कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपने किसी कजिन के लिए कहा था....नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिए कहा था ?

स्त्री : (लड़के की तरफ देखती हुई) इसके लिए..।”[23]

संवाद-संरचना के परिप्रेक्ष्य में लाक्षणिकता एवं व्यंजना की उपादेयता ‘आधे-अधूरे’ में निर्विवाद है। राकेश ने अधिकांश संवादों को सीधे-सरल न कहकर वक्रता से प्रस्तुत किया है, जिसके कथन में रोचकता एवं प्रभावान्विति का समावेश हो गया है, यथा- “वजह सिर्फ वह हवा है जो हम दोनों के बीच से गुजरती है। अथवा क्योंकि जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने में।”[24] ‘आधे-अधूरे’ में संवाद और परिवेश एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों का क्रम एक साथ परिचालित होता है। नाटक के प्रारंभ में जब सावित्री घर में आती है, तब वह घर की गर्द, मेज पर बिखरे जूठे बर्तन, बिखरी बर्तनें और इससे भी अधिक दीवार पर झूलता गंदा पाजामा देखकर महेंद्र के ‘पाजामें को मरे हुए जानवर की तरह उठाकर देखती है और कोने में फेकती है फिर एक झटके से तहाने लगती है।

‘आधे-अधूरे’ के ठोस और अर्थगर्भित संवाद नाटकीय गति व चरित्रोद्घाटन में महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं। संवाद कही भी अटपटे या सारहीन प्रतीत नहीं होते। यही कारण है कि अंकों में विभक्त न होने पर भी नाटक मात्र

संवादों के बल से धाराप्रवाह रूप से बढ़ता चला जाता है। इस नाटक के संवाद पूर्णयता नाटकीय सहज स्वभाविक है। वस्तु को विकास देने वाले तो हैं ही, पात्रों के अंत बाह्य व्यक्तियों को साकार कर देने की पूर्ण क्षमता भी इनमें विद्यमान है। संप्रेषणीयता का गुण इस सीमा तक विद्यमान है कि नाटककार जो कुछ कहना चाहता है, वह नाटक का सामान्य-विशेष सभी प्रकार का पाठक और दर्शक उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है।

मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' नाटक के संवादों की विशेषता यह है कि ये उस वर्ग-चेतना के साथ सीधे जुड़े हुए हैं जिनके पात्रों की संवेदनाओं और स्थितियों को लेकर यह नाटक रचा गया है। महानगरी-विशेषत: दिल्ली के मध्यवर्गी पात्र जिस प्रकार की मिश्रित भाषा में बातचीत करते हैं, उसी प्रकार की संवादों का प्रयोग इस नाटक में दिखाई देता है। 'आधे-अधूरे' नाटक के संवाद पात्रों और उनके वर्गों से तो सीधे जुड़े हुए हैं ही, वर्ण्य-विषय के भी सर्वथा अनुकूल हैं। उनमें चुटीलापन, व्यंग-विनोद की कसक, रोचकता और संक्षिप्ता के गुण मौजूद है।

4.ख. रंगमंचीयता की दृष्टि से 'आधे-अधूरे

i.मंच सज्जा एवं दृश्य बंध:-

अभिनय नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग है। पात्रों के विशिष्ट अभिनय से ही दर्शक नाटक को समझ पाते हैं एवं प्रभावित होते हैं। इसीलिए सभी दृश्यों को सही ढंग से मंच पर उपस्थित करने से उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। सहज दृश्य ही मंच पर चित्रित किये जा सकते हैं। अस्वाभविक दृश्य प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। मोहन राकेश के पूर्व नाटकों में विषय ऐतिहासिक या पौराणिक होते थे। अतः अस्वाभाविक दृश्यों का चित्रण संभव नहीं था। मोहन राकेश के नाटक अभिनेता के गुणों से परिपूर्ण है। उन्होंने अधिकतर अभिनय की दृष्टि से ही नाटकों का सृजन किया और रंगमंच का ध्यान भी रखा और इसी के अनुसार दृश्य योजना भी प्रस्तुत की।

मंच सज्जा या दृश्यबंध नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग होता है इसीलिए इसे स्पष्ट होना चाहिए। नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत आता है। अतः नाटक में दृश्यों का प्रभावी होना आवश्यक है और 'आधे-अधूरे' इस पर खड़ा उतरता है। मंच की दृष्टि से भी यह नाटक आम आदमी के जीवन से जुड़ा हुआ जान पड़ता है जो आधुनिकता का प्रमाण है। जैसे कार्यस्थल मकान का, कमरा, मकान में बैठने के लिए लगाए गए सोफे, कुर्सियां, अलमारी, किताबें,

एवं फाइलें आदि। इन चीजों को देखने से लगता है कि परिवार की तरह कमरा भी आर्थिक मार से आहत है। मोहन राकेश की विशेषता यह है कि इनके नाटकों में एक ही दृश्य होता है इसीलिए निर्देशक को बार-बार मंच बदलने की आवश्यकता नहीं होती। सारा दृश्य मकान के बैठने वाले स्थान पर ही दर्शाया जाता है भीतर के कमरे का जिक्र तो आता है पर वे दृश्य मंच पर उपस्थित नहीं होते हैं। यह आर्थिक दृश्य से भी कठिन नहीं है। जिस नाटक की दृश्य योजना पात्रों की मनःस्थिति पारिवारिक अवस्था आदि को चित्रित करने में सक्षम हो वही सफल नाटक है। इब्राहिम अलकाजी ने भी 'आधे-अधूरे' के दृश्य योजना की प्रशंसा की है। उनके अनुसार टूटे-फूटे फर्नीचर, दीमक लगी फाइलें, गंदे प्याले आदि सब अकेलेपन और घुटन को बढ़ाती है जो पात्रों के बिखरे जीवन का प्रतीक है। नाटककार ने मंचन की सहजता हेतु भी अपनी ओर से कई प्रयास किये हैं। उन्होंने अनेक अभिनय संकेतों द्वारा नाटक को सरलता प्रदान की है-

"पुरुष तीन : जैसे बात को आत्मसात करता हूँ पल भर की ख़ामोशी जिसमें वह कुछ सोचता हुआ इधर-उधर देखता है फिर जैसे किसी किताब पर आँख अटक जाने से उठाकर शेल्फ की तरह चला जाता है....

स्त्री : अहाते के दरवाजे से जाकर इधर-उधर देख लेती है और कुछ उत्तेजित-सी होकर लौट आती है।"[25]

विशेषकर जिन ढलती हुई वर्ग की परिस्थितियों और वातावरण को नाटककार उभारना चाहता है, उसकी विडम्बनाओं के सजीव अंकन के लिए उनका होना अनावश्यक नहीं बल्कि परम आवश्यक है। वातावरण-चित्रण के लिए निश्चय ही ये सब स्वाभाविक एवं प्रभावी उपकरण प्रमाणित हुए हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक का कई बार सफल मंचन हो चुका और हो रहा है। अभिनय एवं मंचीय नाटकों की भाषा का अपना अलग रूप एवं महत्त्व होता है। आजकल तो भाषा-योजना आदि की दृष्टि से ही प्रमुखतः मंचीय नाटकों का अध्ययन-मूल्यांकन अकादमिक स्तर पर होने लगा है। 'आधे-अधूरे' नाटक अध्ययन की कसौटी पर अपना महत्त्व बनाये रखता हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक में मंच-सजा या दृश-बंध में टूटे-फूटे फर्नीचर का ढेर है, दीमक लगी फाइलें, लकड़ी और लोहे के टुकड़े, फटी पत्रिकाएँ, गंदे प्याले और तश्तरियां है। ये सब घुटन और अकेलेपन के आतंक के वातावरण को सघन करते हैं और पात्रों के बिखरे जीवन का प्रतीक हैं। प्रत्येक पात्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे अंदर ही अंदर घुट रहें है। आर्थिक स्थिति की वजह से उनमें ये घुटन की स्थिति विद्यमान है।

ii. प्रकाश योजना:-

मोहन राकेश कृत आधे-अधूरे नाटक में प्रकाश योजना का प्रयोग बड़े सादे ढंग से हुआ है। सादे ढंग से प्रयोग होने के कारण दर्शकों का ध्यान किसी ख़ास वस्तु या पात्र की ओर आकर्षित करने के लिए किया गया है। क्योंकि बहुत सी नाटकीय प्रभाव केवल प्रकाश योजना से ही पैदा किये जा सकते हैं। रोमांटिक वातावरण के लिए अत्यंत करुण, विषादपूर्ण वातावरण के लिए किसी भयंकर पैशाचिक वातावरण की सृष्टि में प्रकाश ही मुख्य तत्व होगा। काले सूट वाले व्यक्ति के बाद अंधेरा होता है फिर प्रकाश कमरे के अलग-अलग कोने से होता हुआ पूरे मंच पर फैल जाता है जिससे कमरे में बिखरी सभी वस्तुएँ नजर आने लगती है। प्रकाश योजना भी सादगी से भरी है। स्त्री और लड़के के बीच की बहस के बाद प्रकाश आकृतियों पर धुन्धलाकर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है... दो अलग-अलग प्रकाश वृत्तों में लड़का और लड़की पर प्रकाश योजना ऐसी हैं जो दर्शकों का ध्यान परिस्थिति विशेष की तरफ ले जाती हैं। दर्शक एक पल के लिए भी अनावश्यक तत्त्व पर ध्यान नहीं दे पाता है। यह प्रकाश योजना की विशेषता है कि वह दर्शक का ध्यान बटने नहीं देता।

नाटक के अंत में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि वह कथ्य, कथानक, पात्र-योजना और नामादि के कितने अनुरूप है, कितनी सार्थक है। इस संकेत योजना को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि "प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक सीमित रह जाती है। स्त्री स्थिर आँखों से बाहर की तरफ देखती आहिस्ता से कुर्सी पर बैठ जाती है। बड़ी लड़की उसकी तरफ देखती है, फिर बाहर की तरफ। हल्का मातमी संगीत उभरता है जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है। तभी लगभग अँधेरे में, लड़के की बाँह थामे पुरुष एक की धुँधली आकृति अंदर आती दिखाई देती है।

"लड़का: (जैसे बैठे गले से) देखकर डैडी, देखकर....।

उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अँधेरा अधिक गहरा होता जाता है।"[26]

इस प्रकार आरंभ में सामान का बिखराव एवं टूटा-फूटा होना परिवार के टूटन एवं बिखराव का परिचायक है, तो अंत में प्रकाश के क्रमशः क्षीण, हीन, मातमी संगीत के बजने और फिर अँधेरे के अधिक गहरा हो जाने की

योजना पूरे परिवार की चेतनाओं में घिरे आये असमर्थता के गहन अँधियारे की परिचायक बनकर प्रेक्षक के सामने आती है। दर्शक भी इसी प्रकार की टूटन, बिखराव और अंधकारमयी स्थितियों की अनुभूतियों से भरकर रह जाता है। इस प्रकार की प्रकाश योजना के माध्यम से नाटककार ने मध्यवर्गीय परिवार की आत्मा को ही नहीं बल्कि आज के समूचे समाज की खोखली आत्मा विकलता को रूपायित करके मंच के प्रभाव को एक विशेष आयाम तक पहुँचा दिया है।

iii.ध्वनि एवं संगीत:-

मोहन राकेश द्वारा रचित 'आधे-अधूरे' नाटक में ध्वनि योजना का बड़ा सार्थक प्रयोग किया गया है। इस नाटक में प्रयोग की गयी ध्वनियाँ पात्रों की मनोदशा तथा परिवेश में व्याप्त त्रासदी तथा घुटन का चित्रण समग्रता से करती है। ध्वनि नाटक के लिए अत्याधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। डॉ. केदारनाथ ने भी माना है कि "नाटक को स्थापित करने, रंग प्रस्तुत को स्वाभाविक, आकर्षक और सम्मोहक बनाने में ध्वनि योजना महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ध्वनियाँ जैसे अशोक की कैंची की ध्वनि, टिनकटर, कप-प्लेटों की या महेंद्रनाथ के फाइल झटकने की आवाजे आदि जो एक ऐसा वातावरण निर्मित करती है, जिसमें चरित्रों की आंतरिकता मुँह से बोलने की अपेक्षा अधिक मुखर हो उठती है। राम गोपाल बजाज के अनुसार "'आधे-अधूरे' नाटक के लिए मोहन राकेश द्वारा प्रयुक्त ध्वनी योजना ही सबसे बेहतर है। भले ही उन्होंने निर्देशक संगीतकार को प्रयोग के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया हो। पहले अंग के अंत के लिए पात्रों के परस्पर अलगाव और उनके संबंधों के काट काटकर बिखरने को अभिव्यक्त करने के लिए संगीत के कई प्रयोग दिखाये गए हैं, किंतु अंत में पाया कि उस स्थिति के कैंची के चक-चक से बेहतर और कोई ध्वनि-प्रभाव संभव नहीं है और अंततः उसे ही रखा गया है।"[27]

स्त्री के इस फैसले लेने के बाद 'अब वह इस घर के लिए कुछ नहीं करेगी' कथन के साथ ही संगीत उत्पन्न होता है- एक खंडित आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत। नाटक के अंत में भी एक संगीत की ध्वनि है जो नाटक समाप्ति के साथ-साथ कुछ और छोड़ जाता है जो दर्शक के मन पर छाया रहता है। हल्का मातमी संगीत उभरता है....उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अँधेरा अधिक गहरा होता जाता है।"[28] 'आधे-अधूरे' नाटक में ध्वनि एवं संगीत का प्रयोग बहुत ही सामान्य रूप से किया गया है।

iv. वेशभूषा एवं रूप सज्जा:-

नाटकों के मुख्यतः रंगमंच की दृष्टि से दो भेद होते हैं पठनीय एवं मंचीय नाटक। रंगमंच पर प्रस्तुत होना ही नाटक का मुख्य प्रयोजन है। जब तक नाटक में संवाद एवं अभिनय क्षमता नहीं आती तब तक नाटक अभिनीत नहीं हो पाता। प्रसाद पूर्व एवं प्रसादयुग तक के नाटकों में ज्यादा मात्रा में हमें पठनीय नाटक दृष्टिगोचर होते हैं। हिंदी नाटकों में सबसे सशक्त कलाकार भारतेंदु और मोहन राकेश के प्रयासों के कारण हिंदी के लिए रंगमंच निर्माण हुआ और आज विकासनशील अवस्था में हमारा रंगमंच है। बिना रंगमंच के अभिनय सफल नहीं होता। रंगमंच के अंतर्गत-वेशभूषा, संवाद, रंग, हाव-भाव आदि चीजों का होना आवश्यक है।

मंचीय एवं अभिनय नाटकों में पात्रों की वेश-भूषा, साज-सज्जा एवं मंच-सज्जा का भी एक विशिष्ट कोण तथा अपनत्व रहा करता है। वेश-भूषा नाटक में चित्रित जीवन और परिवेश को ही निर्देशित नहीं करती, अपितु रंगीन आलोक में नाट्य-प्रदर्शन को प्रभावोत्पादक और सम्मोहक बनाती है। वेश-भूषा या रूप सज्जा भी नाटक के अर्थ को चरित्र की दुहरी व्यंजना के रूप में प्रकट करने में सहायता पहुँचाती है। इसीलिए वेशभूषा का चयन और उपयोग रूप सज्जा भी अपने में कलात्मक कार्य है क्योंकि अभिनेता का पूरा व्यक्तित्व और नाटक के पात्र उसकी अर्थ-व्यंजना उससे सीधे प्रभावित होती है।

'आधे-अधूरे' समसामयिक परिवेश एवं युग-बोध वाला नाटक है। अतः इसमें इस प्रकार की योजनाओं के लिए किसी भी प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव नहीं होता। पात्रों की वेश-भूषा, सज-सज्जा, मंचीय-योजना सभी कुछ सहज और साधारण है। नाटककार ने स्वयं इस दिशा में विशेष सतर्कता अपनाई है। उसने नाटक के आरंभ में ही जहाँ पात्र-परिचय प्रस्तुत किया है, वहाँ उनकी वेश-भूषा आदि का भी परिचय दिया। इसके साथ-साथ उसने पात्रों के आंतरिक स्वरूप विधान के लिए उनके स्वभाव, प्रकृति आदि भी बता दी। इस स्वभाव समूचे नाटक में यत्र-तत्र सर्वत्र स्पष्टतः उभरता हुआ दिखाई देता है। रंगमंच की योजना एवं सज्जा के लिए उचित निर्देश दिए हैं। प्रकाश की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, यह भी बता दिया गया है।

'आधे-अधूरे' की रंगमंचीयता की प्रस्तुति एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है – रूपसज्जा (मेकअप) का न होना। वेशभूषा (ड्रेस) के बारे में नाटक में आरंभ में ही संकेत किया गया है। नायिका सावित्री केवल वही रूपसज्जा

किए हुए है, जो उस जैसी औरत वास्तविक जीवन में करती है। प्रमुख पुरुष-अभिनेता को चूँकि पाँच भूमिकाएँ करनी है- इसलिए वह केवल एक ऊपरी वस्त्र बदलता है। बिन्नी, किन्नी और अशोक की पोशाकों में कोई परिवर्तन नहीं है। केवल सावित्री दूसरे अंक के लिए साड़ी बदलती है क्योंकि स्थिति की यह माँग है।

नाटक में मोहन राकेश के पात्रों की वेश-रचना इंगित करने के साथ-साथ उनकी मानसिक अवस्था व व्यक्तित्व को भी रेखांकित करते चलते हैं जिनकी नाट्य-निर्देशक एवं अभिनेताओं के लिए अत्याधिक महत्त्व है। नाटक के पात्र परिचय के क्रम में उन्होंने स्त्री-पुरुष चरित्रों को बड़े ध्यानपूर्वक लिखा है। नाटक की स्त्री का परिचय देते हुए नाटककार लिखता है – "उम्र चालीस को छूती। चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष। ब्लाउज और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण।"[29] बड़ी लड़की के लिए नाटककार लिखते हैं – "उम्र बीस के ऊपर नहीं है। भाव में परिस्थितियों से संघर्ष का अवसाद और उतावलापन। कभी-कभी उम्र से बढ़कर बड़प्पन। साड़ी माँ से साधारण। पूरे व्यक्तित्व में एक बिखराव।"[30] 'आधे-अधूरे' की वेशभूषा इसके कथानक को भी प्रभाव डालती है तथा रोचक बनाती है। लड़का पतलून के अंदर दबी, भड़कीली बुशशर्ट, धुल-धुलकर घिसी हुई और काले शूट वाला आदमी जिसने चार भूमिकाएँ इस नाटक में निभाई हैं हर एक भूमिका के लिए अलग-अलग पोशाक का प्रयोग करता है।

प्रस्तुत नाटक अपनी सर्जनात्मक में समकालीनता से सीधे साक्षात्कार है। हिंदी रंगमंच का 'आधे-अधूर' नाटक एक श्रेष्ठ आलेख सिद्ध हुआ है। अतः 'आधे-अधूरे' नाटक संपूर्ण हिंदी नाट्य साहित्य में संभवतः ऐसा नाटक है जो न केवल हिंदी रंगकर्मियों को ही अपितु हिंदीत्तर दूसरी भाषाओं के रंगकर्मियों को भी प्रभावित कर सका है। इस प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक रंगमंचीय एवं अभिनेयता की दृष्टि से एक पूर्ण सफल एवं सार्थक नाटक हैं। इसके साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक परिवेश में यह केवल व्यावसायिक कोटि का नाटक नहीं है, बल्कि इसका युगीन दृष्टि से साहित्यिक मूल्य भी असंदिग्ध है।

'आधे-अधूरे' नाटक में वेशभूषा एवं रूपसजा बहुत ही साधारण है। वेशभूषा के अंतर्गत किसी प्रकार का तामझाम दिखायी नहीं देता है। प्रमुख पुरुष –अभिनेता को पांच भूमिकाएँ करनी थीं। इसके लिए यह केवल एक

ऊपरी वस्त्र बदलता है । इस नाटक में केवल सावित्री ही दूसरी बार कपड़ा बदलती है । सावित्री केवल वही रुपसज्जा किये हुए थी,जो उस –जैसी स्त्री वास्तविक जीवन में करती है।

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' में शिल्पगत वैशिष्ट्य के अंतर्गत भाषा-शैली, पात्र-योजना, कथा-वस्तु, नाट्य-संवाद, मंच-सज्जा एवं दृश्य बंध, प्रकाश-योजना, ध्वनि एवं संगीत, वेशभूषा एवं रूप सज्जा आदि आते हैं। 'आधे-अधूरे' के रंग-निर्देश कथानक में गति देने के साथ-साथ चरित्रों की मानसिक स्थिति का भी परिचय देता है। उनका पात्र-परिचय भी उन्हें अन्य नाटककारों से भिन्न सिद्ध करता है। 'आधे-अधूरे' के प्रारम्भ में दिया गया पात्र-परिचय एक-एक पंक्ति में ही सम्बंधित पात्र का बिम्ब अंकित कर देता है –'चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष' सावित्री के विषय में कहा गया यह कथन उसके चरित्र की सम्पूर्ण विशेषताओं को सजीव कर देता है। प्रतीक और बिम्ब इनके नाट्य-शिल्प का एक अनिवार्य अंग हैं जो मार्मिक स्थलों पर प्रयुक्त होकर नाटक को अपेक्षाकृत अधिक गहनता देते हैं। 'आधे-अधूरे' के प्रतीक और बिम्ब सर्वाधिक प्रभावशाली और समकालीन संदर्भों को सम्प्रेषित करने में सक्षम हैं। इस नाटक में प्रकाश और संगीत के नए प्रयोग से नाटक को भावात्मक स्तर पर प्रभावशाली बना कर प्रस्तुत किया गया है। अन्तराल के स्थान पर प्रकाश का प्रयोग, एक खंडर की आत्मा को व्यक्त करता संगीत, आरम्भ में कमरे की वस्तुओं में भटकता प्रकाश जो अंत में खंडित होकर स्त्री या लड़की पर रह जाता है और हल्का मातमी संगीत आदि का प्रयोग नाटककार के गहरे रंगानुभव का प्रमाण है। यह नाटक मोहन राकेश की सर्वाधिक समृद्ध रंग-चेतना की देन है। कथा के अतीत के स्थान पर वर्तमान के भाव से मानव-नियति के अभिशाप का अनुभव और निकट से होता है। द्वंद्व उनके नाटकों का केंद्रबिंदु है पर यह द्वंद्व क्रिया-व्यापार या बाह्य संघर्ष के रूप में न उभरकर मन:स्थितियों का द्वंद्व बनकर आया है। 'आधे-अधूरे' में यह द्वंद्व भावात्मक या वैचारिक स्तर पर न होकर यथार्थ जीवन की स्थितियों का द्वंद्व है। इस नाटक में नाट्य एवं रंगमंच के नवीन सार्थक मुहावरे की तलाश है।

संदर्भ :

1. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 29
2. वही, पृ. सं.- 47
3. वही, पृ. सं.- 44
4. वही, पृ. सं.- 51
5. वही, पृ. सं.- 26
6. वही, पृ. सं.- 25
7. वही, पृ. सं.- 94-95
8. वही, पृ. सं.- 19
9. वही, पृ. सं.- 52
10. वही, पृ. सं.- 20
11. वही, पृ. सं.- 32-33
12. वही, पृ. सं.- 36
13. वही, पृ. सं.- 46
14. वही, पृ. सं.- 94
15. हिंदी नाटक,बच्चन सिंह,पृ. सं.- 75
16. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 48
17. वही, पृ. सं.- 44
18. वही, पृ. सं.- 61
19. वही, पृ. सं.- 70
20. मोहन राकेश और उनके नाटक, डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृ. सं.- 117
21. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 26
22. वही, पृ. सं.- 46

23. वही, पृ. सं.- 53

24. वही, पृ. सं.-

25. वही, पृ. सं.- 5-6

26. वही, पृ. सं.- 99-100

27. मोहन राकेश के नाटक एक मुल्यांकन, डॉ. प्रसून प्रसाद, पृ. सं- 98

28. मोहन राकेश का साहित्य, डॉ. मेहंदी रत्ता, पृ. सं.- 58

29. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृ. सं.- 11

30. वही, पृ. सं.-11

उपसंहार

नाटक हिंदी साहित्य की एक प्रभावशाली और सशक्त विधा है। वर्तमान युग में हिंदी नाटक के कथ्य, शिल्प, मंचीयता आदि का काफी विकास हुआ है । इसीलिए आजादी के बाद का हिंदी नाटक अपने पूर्ववर्ती स्वरूप से कई दृष्टियों में भिन्न है। आज हिंदी नाटक का सिर्फ भारतीय साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व के विभिन्न देशों के नाट्य साहित्य में कई प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं। नाटककार अपनी नाट्यकृति को समय के अनुरूप ही रचता है, इसलिए वह अपनी कृति में युग विशेष के जीवन दर्शन को प्रस्तुत करने का इच्छुक रहता है। नाटककार अपने युग के सत्य को अपनी कृति द्वारा अभिव्यक्त करता है। वह सत्य नाटककार की रचना के मूल तथ्य से जुड़ा रहता है। साठोत्तरी हिंदी नाटककारों ने अपनी नाट्य कृतियों के द्वारा जीवन के यथार्थ को उसके अविकृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मोहन राकेश आधुनिक हिंदी साहित्य के एक अत्यंत संवेदनशील साहित्यकार है। मोहन राकेश ने अपने भोगे हुए यथार्थ को अपने नाटकों और एकांकियों में प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है। उनका साहित्य उनके जीवन के अनुभवों पर खड़ा है। इसीलिए यह सच है कि राकेश ने जो कुछ लिखा है वह युग की धुरी पर केन्द्रित होकर चारों ओर चक्रायित हुआ है। उसके केंद्र में व्यक्ति और उसकी स्थितियाँ है। उन्होंने नाटक में लघुमानव को स्थापित किया और उसके अकेले कंठ की आवाज को बुलंद किया। उन्होंने मानव को उसके परिवेश में देखा फिर उसकी पीड़ा, अजनबीपन और फालतूपन होने के अनुभव को वाणी दी।

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक हिंदी का प्रसिद्ध नाटक है। ये नाटक दिल्ली में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार के जीवन पर आधारित है। नाटककार मोहन राकेश ने आधे अधूरे नाटक में वर्तमान को अतीत के माध्यम से मुखरित करने का मोह छोड़कर वर्तमान से सीधा साक्षात्कार किया है। स्वतंत्रता के पश्चात् मध्यवर्ग में आर्थिक विषमताओं ने क्रमश: पारिवारिक बिखराव, मानसिक तनाव और नैतिक पतन को बढ़ावा दिया है। 'आधे-अधूरे' आज के एक ऐसे परिवार के धीरे-धीरे विघटित होने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है, जिसमें पुरुष महेन्द्रनाथ बहुत दिन पहले व्यापार में सारी पूँजी गवांकर अब बेकार है और पत्नी सावित्री नौकरी करके घर चलाती है। कई तरह की परिस्थितियों और अपने-अपने स्वभाव के कारण अब दोनों एक-दूसरे से खीझे हुए हैं तथा नफरत करते हैं, फिर भी किसी के लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है, दोनों साथ रहने के लिए मजबूर है। सावित्री को महेन्द्रनाथ सदा से दब्बू,

व्यक्तित्वहीन, पर-निर्भर, आधा-अधूरा आदमी लगा है। सावित्री अपने लिए एक पूरा आदमी चाहती है। इसलिए उससे कटती जाती है और लगातार किसी पूरे आदमी की तलाश करती है जो उसे कहीं नहीं मिलता। उधर महेन्द्रनाथ को लगता है कि वह जबरदस्ती उस पर हावी होने की कोशिश कर रही है। उसे अपनी जिन्दगी नहीं जीने देती और हमेश अपमानित करती है। वह बार-बार उससे भागने की कोशिश करता है मगर हर बार लौट आता है। इस प्रकार दोनों को किसी भिन्न व्यक्ति की तलाश है। दोनों अपने में आधे-अधूरे है, पर दूसरा उस अधूरेपन को कम नहीं करता, बल्कि उसके एहसास को और भी तीव्र कर देता है। इससे भी बड़ी विडंबना यह है कि दोनों एक-दूसरे को छोड़कर जा नहीं सकते – इतने अधूरे हैं, इतने पंगु है। पति-पत्नी के बीच इस असामंजस्य और कलह का असर बच्चों पर भी भरपूर पड़ता है। बड़ी बेटी बिन्नी ने माँ के ही एक प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लिया है पर अब दु:खी और संत्रस्त है। बेटा अशोक पिता की भाँति ही बेकार है, उसका किसी नौकरी में मन नहीं लगता और मन-पसंद का कोई काम नहीं मिलता। छोटी लड़की किन्नी इस वातावरण में सहज ही बिगड़कर जिद्दी, चिड़चिड़ी और विद्रोही हो गयी है। बिन्नी के इसी घर में लौट आने और अशोक की बेकारी में जैसे सावित्री और महेन्द्रनाथ की जिंदगी की ही पुनरावृत्ति है – वैसे ही तनावभरी, असंगत और व्यर्थतापूर्ण स्थितियों की नयी शुरुआतें। 'आधे-अधूरे' नाटक की जो समस्याएँ थी वह वर्तमान समय में भी दिखाई देती है। आज मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के लिए घर-परिवार और समाज से कटता जा रहा है। रिश्तों में वह प्यार धीरे-धीरे खत्म होता दिखाई दे रहा है। 'आधे-अधूरे' नाटक में अभिव्यक्त संवेदना एवं शिल्प' विषय के अंतर्गत चारों अध्यायों का अध्ययन करने के पश्चात् अनेक तथ्य सामने आये हैं जिसका सार निम्नलिखित है -

प्रथम अध्याय : 'हिंदी नाटक का उद्भव और विकास' में नाटक का परिचय देते हुए उसके विकास के सभी बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि इसकी शुरुआत वैदिक समय से ही हो गई थी, फिर भी आजकल अत्याधिक ढंग से उसमें काफी कुछ परिवर्तन हो चुका है। नाटक ने वर्तमान समय में साहित्य-जगत में अपनी एक विशिष्ट पहचान बना ली है। 'नाटक' जिसे 'पंचमवेद' के नाम से भी जाना जाता है, उसका मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ मानवजाति का सार्वभौम विकास करना भी रहा है। वर्तमान समय में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा 'नाटक' अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि साहित्य की अन्य विधाओं में केवल श्रव्य या पाठ्य तत्त्व के रहने के कारण बहुत सी बातें समझ में नहीं आती है। 'नाटक' एक ऐसी विधा है,

जिसके श्रोता व दर्शकगण बहुसंख्यक है। क्योंकि पढ़ा-लिखा व् अनपढ़ दोनों ही वर्ग देख-सुनकर उसे समझ सकते हैं । जबकि साहित्य की अन्य विधा केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित है।

हिंदी में नाटक साहित्य की विशिष्ट परम्परा का प्रारम्भ भारतेंदु युग से होता है। हालाँकि भारतेंदु से पूर्व हिंदी नाटकों का प्रचलन तो हो चुका था, किन्तु उसे उचित प्रोत्साहन नहीं मिल सका था। इसके लिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था को ही दोषी ठहराया जा सकता है। भारतेन्दु कालीन नाटकों का मूल उद्देश्य समाज में व्याप्त अज्ञानता, अंधश्रद्धा, अनाचार वैमनस्य आदि बुराइयों को दूर करना था। आधुनिक हिंदी नाट्य विधा की विकास परम्परा में जयशंकर प्रसाद का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना नहीं की है, किन्तु उसमें बहुत कुछ नवीनता और आधुनिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए समाज की जटिल समस्याओं को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास भी किया है। प्रसाद के बाद जो भी नाटक लिखे गए उनमें काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थ को अधिक अपनाया गया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक जीवन की विसंगतियों को दिखाता है। स्वातंत्र्योत्तर नाट्य परम्परा में वे नाटककार आते हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता के पश्चात् ही नाट्ययात्रा प्रारम्भ किया है। इसमें जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनरायण लाल, धर्मवीर भारती, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मोहन राकेश, शंकर शेष, रेवतीशरण शर्मा, मणि मधुकर, विपिन कुमार अग्रवाल, कुसुम कुमार आदि उल्लेखनीय है। उनके अधिकतर नाटक इतिहास-पुराणों पर आधारित हैं किन्तु उनमें समकालीन जिन्दगी के विविध रूपों को प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान राजनीति की त्रासदी, ढोंगी महात्माओं तथा साधुओं द्वारा भोली-भाली मासूम जनता को गुमराह करना, उनका फायदा उठाना, भ्रष्ट राजनीति तथा उसमें एक आम आदमी की लाचारी, उसकी छटपटाहट, उसकी पीड़ा, वेदना आदि सबको विषय बनाकर इन नाटककारों ने अपने नाट्य कौशल के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। समकालीन नाटकों में वर्तमान जीवन की विसंगतियों को स्पष्ट रूप से उभारा गया है। इस युग के नाटककारों के नाटकों में वास्तविकता और मानवीय चरित्रों का विश्लेषण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वर्तमान समय में जो नाटक रचे जा रहें हैं वे बहुआयामी प्रतीत होते हैं, जिसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब झलकता है। व्यक्तिगत चेतना के साथ-साथ समष्टिगत चेतना को महत्त्व देते हुए जीवन से जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं को स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने अपने नाटकों का विषय बनाया है। उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि परिवेशगत प्रतिबद्धता के साथ-साथ मंचीय प्रतिबद्धता को उन्होंने समान

महत्त्व दिया है। कथ्य तथा शिल्प दोनों क्षेत्रों में नये-नये प्रयोग करते हुए, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार हिंदी रंगकर्म के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। रंगभाषा से संबंधित गंभीर चिंतन एवं प्रयोग स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य समीक्षा भी नई रंग-दृष्टि के तहत नए मुहावरे की तलाश में आगे बढ़ रही है।

द्वितीय अध्याय : 'मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में मोहन राकेश के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उनके व्यक्तित्व के निर्माण तत्त्वों के आधार पर किया गया है। परिवार का कठोर आर्य समाजी वातावरण, आर्थिक असुरक्षा, बालक राकेश का अकेलापन और उनके पिता की असामयिक मृत्यु कुछ ऐसे कारण हैं जो राकेश को अत्यधिक संवेदनशील एवं अन्तर्मुखी बनाया। बचपन में राकेश की दादी और उनकी माँ का प्रभाव उनपर पड़ा। किशोरावस्था और युवावस्था में राकेश आर्थिक अभावों से, सामाजिक विषमताओं और विसंगतियों से संघर्ष करते हुए अपने अध्ययन को आगे बढ़ाया। शिमला का बिशप कांटन स्कूल हो या जालंधर का डी.ए.वी. कॉलेज या फिर दिल्ली अथवा बम्बई के महाविद्यालय जहाँ उन्होंने कार्य किया। उनके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते प्रतीत होते हैं क्योंकि इन्हीं संस्थाओं में मोहन राकेश असंख्य किशोर एवं युवक-युवतियों के संसर्ग में आए और उनका भावात्मक एवं बौद्धिक विकास हुआ। संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के विद्वान मोहन राकेश को छात्र-छात्राओं का स्नेह बराबर प्राप्त हुआ और उनके लेखन का कार्य आगे बढ़ा। मोहन राकेश का वैवाहिक जीवन उनके नारी विषयक चिंतन को एक नया आयाम देता है क्योंकि पत्नी के रूप में जो तीन स्त्रियाँ उनके जीवन में आई तीनों शिक्षा, स्वभाव और संस्कार की दृष्टि से भिन्न थी। पहली के सम्मुख सम्भवत: वे हीनता भाव से ग्रस्त रहे। दूसरी भावात्मक रूप से असंतुलित थी इसीलिए दोनों से तलाक हुआ। अपने विवाहित जीवन में नारी के जिन वीभत्स रूपों का सामना उन्होंने किया उनकी छाया उनके साहित्य में आए नारी पात्रों पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

मोहन राकेश की अनुभूति में गहरी पकड़ थी। अनुभूति सत्य और भोगे हुए यथार्थ को उन्होंने अपनी हर रचना में बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने आडम्बर, कृत्रिमता और भावुकता को निष्कासित कर अपने पाठकों के साथ अपना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किया। वास्तव में उनकी रुचि रचनाओं में वर्तमान जीवन की आधुनिकता, अनुभूति का सत्य और अभिव्यक्ति की जीवंतता में व्यक्त हुई है। मोहन राकेश ने गद्य की विविध विधाओं को लेकर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। गद्य की विधाओं में उन्होंने

कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, समीक्षा, रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, जीवनी, यात्रा-वृत्तांत आदि बहुत कुछ लिखा, जिसमें एक सफल और श्रेष्ठ गद्यकार का सहज-स्वाभाविक और मोहक रूप दिखाई देता है।

तृतीय अध्याय: 'आधे-अधूरे' नाटक की मूल संवेदना' है। साहित्य में संवेदना शब्द और अर्थ दोनों की सहायता से उभरती है। संवेदना मानव मन की उपज है। वह मानव मन के केंद्र में विद्यमान होती है। साहित्य के प्रत्येक विधा में संवेदना का मुख्य आधार रूप है। आज के रचनाकार की संवेदना भी परिस्थिति, अवस्था, सामाजिक स्तर, मानव मन की गहराइयों, चेतना, विश्वास, धारणा आदि की व्यापकता प्रमाणित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम जिस सामाजिक अवस्था से गुजर रहे हैं, उसमें मुख्यतः मानवीय आपसी संबंधों को नये परिवेश में समझने और संशोधित करने की आवश्यकता है।

'आधे-अधूरे' नाटक में केवल स्वयं की अनुभूतियाँ, अस्तित्व की पहचान और आगे बढ़ने की लालसा दिखाई देती है। इस नाटक के सभी पात्र केवल स्वयं की पीड़ा को व्यक्त करते हैं। यद्यपि इस कड़ी में वे यह भूल जाते हैं कि वे सभी एक परिवार का हिस्सा हैं और आपसी मनमुटाव के कारण वे सभी स्वयं अपनी ही क्षति कर रहे हैं। व्यक्ति का इस प्रकार आत्मकेंद्रित हो जाना उसे न केवल अपने परिवार से काट देता है, बल्कि उसे समाज से भी काट देता है। 'आधे-अधूरे' नाटक में पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का द्वंद्व साफ दिखाई पड़ता है। यह द्वंद्व आधुनिक युग की उपज है। बच्चे यह नहीं देखते कि घर-परिवार वालों के पास पैसे हैं या नहीं। वे एक जिद में अड़ जाते हैं। उन्हें हर एक सुख-सुविधा चाहिए जो अन्य लोगों को मिलती है। वही पुरानी पीढ़ी हमेशा आगे-पीछे दोनों के बारे में सोचती है। किस तरह घर चलाना है और कैसे उसमें से भी पैसे बचाना है ताकि कोई तकलीफ हो तो किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े। सावित्री हर पुरुष से टकराकर अपने में टूटती है, फिर भी तलाश के भटकावे में अपने बेटे-बेटी और यहाँ तक कि अपने पति से ऊब कर अपने पुराने प्रेमी जगमोहन से हमेशा के लिए जुड़ने का असफल प्रयास करती है। सावित्री अपनी असफलता के कारण ही चीखती-चिल्लाती है और सबसे अलग होना चाहती है, लेकिन पुनः उसकी वापसी बेकार पुरुष महेंद्रनाथ के घर ही होती है। महेंद्रनाथ, सावित्री, बिन्नी, अशोक और किन्नी आदि आधुनिक मध्यवर्गीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी एक दूसरे से मिलकर जुड़े रहने के लिए बाध्य है। यह उनके स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्वेषण की एक कड़ी होते हुए भी यहाँ वह एक तरह की स्वीकृति पर पहुँच गए हैं। स्त्री और पुरुष के बीच परस्पर अनुकूलता नहीं है और उनके संबंधों में एक बुनियादी संघर्ष सदा बना

रहता है। मगर फिर भी इस संघर्ष को समझना और इसके साथ-साथ रहना भी पड़ता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष पूरी तरह कभी अलग भी नहीं हो सकते। इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबंध में बिखराव आर्थिक कारणों से प्रखर है। नारी की त्रासदी 'आधे-अधूरे' नाटक में दिखायी देती है। इस नाटक के प्रत्येक नारी पात्र अपना जीवन खुलकर नहीं जी पा रही है। सावित्री, किन्नी और बिन्नी तीनों का जीवन विसंगतियों से भरा हुआ है। ये तीनों नारी पात्र तकलीफ में होते हुए भी जीवन-यापन के लिए तत्पर है। जीवन की तमाम विसंगतियों को काटते हुए आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। यह नाटक स्त्री की मुक्तिभावना, पुरुष का अधूरापन, सम्बन्धों का खोखलापन, नफरत तथा विघटनशील जीवन मूल्य का उत्कर्ष है। यहाँ सम्बन्ध तो हैं परन्तु संबंधों की गरिमा नहीं है। घर तो है किन्तु वास्तविक अर्थ में घर नहीं है। परिवार में आत्मीयता और सम्बन्धों की भावनात्मक ऊष्मा होनी चाहिए जो यहाँ गायब है। संबंधों में जो गरमाहट होनी चाहिए वह शिथिल है। मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक मध्यवर्गीय समाज पर आधारित नाटक है। मध्यवर्गीय परिवार आगे बढ़ने की लालसा एवं दिखावापन के कारण किस तरह समाज से कटता जा रहा है इसका ज्वलंत उदाहरण यह नाटक है। इस नाटक के सभी पात्र अपने-आप को आधा-अधूरा ही समझते हैं और इसी पूर्णता की तलाश के कारण रिश्तों में दरार, परिवारिक विघटन आदि दिखाई देते हैं। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से संपूर्ण मध्यवर्गीय परिवार की विडम्बना को दिखाने की कोशिश की है।

चतुर्थ अध्याय : शिल्पगत वैशिष्ट्य और 'आधे-अधूरे' है। 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा-शैली हमारे आधुनिक समाज की जन-प्रचलित भाषा है। इस प्रकार की सहज नाटकीय भाषा का चमत्कार मोहन राकेश जैसा व्यक्ति ही दिखा सकता है। मोहन राकेश ने 'आधे -अधूरे' नाटक में बहुत सरल और आम जन-जीवन की भाषा का प्रयोग किया है जिसे कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सकें। नाटक की भाषा सादी, सच्ची और एकसमान तनाव-भरी है। इसमें एक ओर जहाँ बोलचाल की भाषा की लय और उसकी बुनावट है, वहीं दूसरी ओर सहज प्रवाह एवं स्वत:स्फूर्तता भी है। 'आधे-अधूरे' नाटक की न तो पात्र-योजना ही परम्परागत है और न ही पात्रों के चरित्र-चित्रण ही। नाटककार मोहन राकेश ने परम्परा से सर्वथा हटकर आधुनिक जीवन के व्यावहारिक एवं यथार्थ परिवेश से जीवंत एवं यथार्थ पात्र चुने हैं फिर उनका चरित्रांकन भी लीक से हटकर एक नये, मौलिक एवं अभूतपूर्व आयाम में किया है। इसी कारण इस नाटक के पात्रों, उनके व्यक्त-अव्यक्त चरित्रों का तो अपना एक अलग, पर यथार्थ व्यक्तित्व ही है। 'आधे-अधूरे' की पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मोहन राकेश ने नाटक को 'जीवन की

अवस्थानुकूल अनुकृति' मात्र ही नहीं रहने दिया है बल्कि उसे वास्तविक और व्यावहारिक जीवन ही बना दिया है। आधे-अधूरे' नाटक की कथावस्तु बहुत ही साधारण है। इस नाटक में पात्रों की संख्या बहुत कम है, किन्तु प्रत्येक पात्र अपनी अहम भूमिका निभाता है। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से दिल्ली में रहने वाले मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति को दिखाया है। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक के संवादों की विशेषता यह है कि ये उस वर्ग-चेतना के साथ सीधे जुड़े हुए हैं जिनके पात्रों की संवेदनाओं और स्थितियों को लेकर यह नाटक रचा गया है। महानगरी-विशेषत: दिल्ली के मध्यवर्गीय पात्र जिस प्रकार की मिश्रित भाषा में बातचीत करते हैं, उसी प्रकार की संवादों का प्रयोग इस नाटक में दिखाई देता है। 'आधे-अधूरे' नाटक के संवाद पात्रों और उनके वर्गों से तो सीधे जुड़े हुए हैं ही और वर्ण्य-विषय के भी सर्वथा अनुकूल हैं। उनमें चुटीलापन, व्यंग-विनोद की कसक, रोचकता और संक्षिप्ता के गुण मौजूद है।। प्रतीक और बिम्ब इनके नाट्य-शिल्प का एक अनिवार्य अंग हैं जो मार्मिक स्थलों पर प्रयुक्त होकर नाटक को अपेक्षाकृत अधिक गहनता देते हैं। 'आधे-अधूरे' के प्रतीक और बिम्ब सर्वाधिक प्रभावशाली और समकालीन संदर्भों को सम्प्रेषित करने में सक्षम हैं। इस नाटक में प्रकाश और संगीत के नए प्रयोग से नाटक को भावात्मक स्तर पर प्रभावशाली बना कर प्रस्तुत किया गया है। अन्तराल के स्थान पर प्रकाश का प्रयोग, एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता संगीत, आरम्भ में कमरे की वस्तुओं में भटकता प्रकाश जो अंत में खंडित होकर स्त्री या लड़की पर रह जाता है और हल्का मातमी संगीत आदि का प्रयोग नाटककार के गहरे रंगानुभव का प्रमाण है। यह नाटक मोहन राकेश की सर्वाधिक समृद्ध रंग-चेतना की देन है। कथा के अतीत के स्थान पर वर्तमान के भाव से मानव-नियति के अभिशाप का अनुभव और निकट से होता है। द्वंद्व उनके नाटकों का केंद्रबिंदु है पर यह द्वंद्व क्रिया-व्यापार या बाह्य संघर्ष के रूप में न उभरकर मन:स्थितियों का द्वंद्व बनकर आया है। 'आधे-अधूरे' में यह द्वंद्व भावात्मक या वैचारिक स्तर पर न होकर यथार्थ जीवन की स्थितियों का द्वंद्व है। इस नाटक में नाट्य एवं रंगमंच के नवीन सार्थक मुहावरे की तलाश है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

आधार ग्रन्थ :

1. राकेश, मोहन, पहला संस्करण 1969, 'आधे-अधूरे', दरियागंज, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन।

सहायक ग्रन्थ :

1. अग्रवाल, डॉ. सुषमा, वर्ष- 1986, मोहन राकेश का व्यक्तित्व और कृतित्व, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
2. ओझा, डॉ. दशरथ, वर्ष- 1962, हिंदी नाटक की रुपरेखा, हिंदी साहित्य संसार प्रकाशन, दिल्ली
3. ओझा, डॉ. दशरथ, वर्ष- 2000, हिंदी नाटक उद्भव और विकास, राजपाल एंड संज, दिल्ली
4. अब्दुर्रशीद, डॉ. ए. वर्ष- 2005, हिंदी नाटक : सौ वर्ष का सफरनामा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद
5. कुकरेती, हेमंत, वर्ष- 2009, शंकर शेष के नाटकों में संघर्ष चेतना, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली
6. कुमार, डॉ. सुधीर, वर्ष- 2002, हिंदी नाटक परम्परा और प्रयोग, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली
7. कुमार, डॉ. श्रीमती रीता, वर्ष- 2004, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक : मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में, विभु प्रकाशन, ज्ञानी बार्डर
8. गौड़, दत्त गणेश, वर्ष- 1965, 'आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', सरस्वती पुस्तक सदन प्रकाशन, आगरा
9. गुप्ता, डॉ. चमनलाल, वर्ष- 1988, मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय संबंध, भावना प्रकाशन, दिल्ली
10. गुप्ता, विपिन, वर्ष- 2000, हिंदी नाटकों में समसामयिक परिवेश 1971 से 1990,ई., नर्मल पब्लिकेशन, नई दिल्ली
11. गायकवड, डॉ. सा.का, वर्ष- 1975, आधुनिक हिंदी नाटक का संघर्ष तत्त्व, पुस्तक संस्थान, कानपुर
12. घोष, श्याम सुंदर, वर्ष- 1987, भारतीय मध्यवर्ग, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
13. चातक, गोविन्द, वर्ष- 1959, आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक एवं संवादीय संरचना, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली

14. चातक, गोविंद, वर्ष- 1989, प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली

15. चतुर्वेदी, प. जगदीश, वर्ष- 1977, साहित्य और समाज, राजपाल एंड संस, दिल्ली

16. चौहान, डॉ. किशन, वर्ष- 1997, समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली

17. जैन, नेमीचंद, वर्ष- 2001 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, 'दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली

18. जैन, नेमिचंद्र, वर्ष- 2003, मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली

19. जोशी, प्रकाश जीवन, वर्ष- 1971, 'नाटकार मोहन राकेश', संयार्ग प्रकाशन, दिल्ली

20. डॉ. नगेन्द्र, वर्ष-1998, आधुनिक हिंदी नाटक, साहित्य रत्न भंडार प्रकाशन, आगरा

21. तड़वी, अर्जुन देव, वर्ष- 2003, मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण, राज बुक एंटर प्राईज, जयपुर

22. तनेजा, डॉ. जयदेव, वर्ष- 2008, मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन, राधाकृष्ण कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

23. द्विवेदी, सुनील कुमार, वर्ष-, मध्यवर्गीय समाज और ज्ञानरंजन, मानव प्रकाशन, कोलकाता

24. पी.ए.म., थांमस, वर्ष- 1995, भारतीय मध्यवर्ग और सामाजिक नाटक, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा

25. पिपलापुरे, डॉ. श्रीमती मीना, वर्ष- 1987, मोहन राकेश के नारी संसार, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

26. प्रसाद, डॉ. प्रसून, वर्ष- 2009, मोहन राकेश के नाटक एक मूल्यांकन, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

27. बंसल, डॉ. पुष्पा, वर्ष- 1998, मोहन राकेश का नाट्य साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

28. मूलचंद, गौतम, वर्ष- 1976, हिंदी नाटक की भूमिका मध्यवर्ग के संदर्भ में, जागृत प्रकाशन, अलीगढ़

29. महाजन, श्री रामबा, वर्ष- 2005, आधुनिक हिंदी कहानी साहित्य में काम मूलक संवेदना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

30. मेहता, कमलिनी, वर्ष-1968, नाटक और यथार्थवाद, प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

31. यादव, डॉ. सुरेन्द्र, वर्ष- 2002, नाटक रंगमंच और मोहन राकेश, तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली

32. राकेश, मोहन, वर्ष- 1972, परिवेश, भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

33. रजनीश गोविन्द, वर्ष- 1998, समकालीन हिंदी कविता की संवेदना, भावना प्रकाशन, दिल्ली

34. 'ऋषिकेश', डॉ. रामस्वरूप, वर्ष- 1986, हिंदी संस्कृत कोश, विद्याभवन, वाराणसी

35. रस्तोगी, गिरीश, वर्ष- 1968, आधुनिक हिंदी नाटक, ग्रंथम प्रकाशन, रामबाग, कानपुर

36. रस्तोगी, गिरीश, वर्ष- मोहन राकेश और उनके नाटक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

37. रस्तोगी, गिरीश, वर्ष- 1966, हिंदी नाटक और रंगमंच नयी दिशायें नये प्रश्न, ग्रन्थ प्रकाशन, कानपुर

38. विकल, गोदम, वर्ष- 2000, हिंदी नाटक रंग शिल्प दर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

39. वर्मा, डॉ. सुरेन्द्र, वर्ष- 2001, हिंदी नाटक का विकास, संजय प्रकाशन, दिल्ली

40. वर्मा, धीरेन्द्र, वर्ष- 1996, हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वराणसी

41. शर्मा, डॉ. मदन मोहन, वर्ष- 1986, संस्कृत और हिंदी नाटक, जबलपुर प्रकाशन, जबलपुर

42. शर्मा, प्रो. राजेश, -2006, मोहन राकेश के नाटकों की समीक्षा, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली

43. हेमंत, निर्मला, वर्ष- 2005, आधुनिक हिंदी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धांत, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली

44. शुक्ल, डॉ. भानुदेव, वर्ष- 1993, नया हिंदी नाटक, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

45. शानवारे, डॉ. कविता, वर्ष- 1999, मोहन राकेश और उनका कथा साहित्य, विअक्ष प्रकाशन, कानपुर

46. सिंह, डॉ. मंजुलता, वर्ष-1971, हिंदी उपन्यासों में मध्यवर्ग, आर्य बुक डिपो, दिल्ली

47. सिंह, बच्चन, वर्ष- 1967, हिंदी नाटक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,

48. सिंह, विजय बहादुर, वर्ष- 2007, उपन्यास और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

49. त्रिपाठी, डॉ. सत्यवती, वर्ष- 1963, आधुनिक हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

50. श्री नवल, वर्ष-2005, नालंदा विशाल शब्द सागर, आधिस प्रकाशन, नई दिल्ली

51. श्री राय, वर्ष- 1998, मानवीकी पारिभाषिक कोश : साहित्य खंड, इलाहाबाद प्रकाशन, नई दिल्ली

पत्र : पत्रिकाएँ –

1. आजकल, जुलाई 2001

2. कथादेश, हरिनारायण, मई 1999
3. दस्तावेज, जुलाई-सितंबर 1999
4. मधुमती, अक्टूबर 1997
5. मनोरमा, जनवरी 1993
6. भाषा, सितंबर- अक्टूबर 1997
7. वागर्थ, फरवरी 1997
8. सचेतना, महीप सिंह, सितंबर-दिसंबर 1996
9. समीक्षा, गोपाल राय, जुलाई-सितंबर 1981
10. सारिका, नवंबर 1984
11. हंस, संजय सहाय, जनवरी 2002